ANCIENT INDIAN HISTORY & ARCHAEOLOGY, PATNA UNIVERSITY, PATNA

शोध प्रविधि

(Research Methodology)

Pre- Ph.D Course Work

Paper- Research Methodology

Dr. Manoj Kumar
Assistant Professor (Guest)
Dept. of A.I.H. & Archaeology,
Patna University, Patna-800005
Email- dr.manojaihcbhu@gmail.com

PATNA UNIVERSITY, PATNA

शोध विषय विशेष के बारे में बोधपूर्ण तथ्यान्वेषण एवं यथासम्भव प्रभूत सामग्री संकलित कर सूक्ष्मतर विश्लेषण-विवेचन और नए तथ्यों, नए सिद्धान्तों के उद्घाटन की प्रक्रिया अथवा कार्य शोध कहलाता है।

शोध के लिए प्रयुक्त अन्य हिन्दी पर्याय हैं:-

अनुसन्धान, गवेषणा, खोज, अन्वेषण, मीमांसा, अनुशीलन, परिशीलन, आलोचना, रिसर्च आदि

अंग्रेजी में जिसे लोग *डिस्कवरी ऑफ फैक्ट्स* कहते हैं, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (सन् 1969) स्थूल अर्थों में उसी नवीन और विस्मृत तत्त्वों के अनुसन्धान को शोध कहते हैं। पर सूक्ष्म अर्थ में वे इसे ज्ञात साहित्य के पूनर्मूल्यांकन और नई व्याख्याओं का सूचक मानते हैं। दरअसल सार्थक जीवन की समझ एवं समय-समय पर उस समझ का पूनर्मूल्यांकन, नवीनीकरण का नाम ज्ञान है, और ज्ञान की सीमा का विस्तार शोध कहलाता है। पी.वी.यंग (सन् 1966) के अनुसार नवीन तथ्यों की खोज, प्राचीन तथ्यों की पुष्टि, तथ्यों की क्रमबद्धता, पारस्परिक सम्बन्धों तथा कारणात्मक व्याख्याओं के अध्ययन की व्यवस्थित विधि को शोध कहते हैं। एडवर्ड (1969) के अनुसार किसी प्रश्न, समस्या, प्रस्तावित उत्तर की जाँच हेतु उत्तर खोजने की क्रिया शोध कहलाती है।

विदित है कि हमारा यह संसार प्राकृतिक एवं चमत्कारिक अवदानों से परिपूर्ण है। अनन्त काल से यहाँ तथ्यों का रहस्योद्घाटन और व्यवस्थित अभिज्ञान का अनुशीलन होता रहा है। कई तथ्यों का उद्घाटन तो दीर्घ अन्तराल के निरन्तर शोध से ही सम्भव हो सका है। जाहिर है कि इन तथ्यों की खोज और उसकी पुष्टि के लिए शोध की अनिवार्यता बनी रही है।

मानव की जिज्ञासु प्रवृत्ति ने ही शोध-प्रक्रिया को जन्म दिया। शोध-कार्य सदा से एक प्रश्नाकुल मानस की सुचिन्तित खोज-वृत्ति का उद्यम बना रहा है। जाहिर है कि किसी सत्य को निकटता से जानने के लिए शोध एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया होती आई है। समय-समय पर विभिन्न विषयों की खोज और निष्कर्षों की विश्वसनीयता एवं प्रमाणिकता गहन शोध की मदद से ही सम्भव हो पाई है। समय

के बदलते क्रम में मानव जीवन की समस्याएँ विकट होती आई हैं, उत्तरोत्तर नई समस्याओं से मानव जाति का सामना होता आया है। शोध की महत्ता मानव समुदाय की सोच की संगत विविधता से सम्बद्ध रहती आई है, मानव समुदाय की रुचि, प्रकृति, व्यवहार, स्वभाव और योग्यता के आधार पर यह भिन्नता परिलक्षित होती रही है। मानवीय व्यवहारों की अनिश्चित प्रकृति के कारण जब हम व्यवस्थित ढंग से किसी विषय-प्रसंग का अध्ययन कर किसी निष्कर्ष पर आना चाहते हैं, तो शोध अनिवार्य हो जाता है। यूँ कहें कि सत्य की खोज या प्राप्त ज्ञान की परीक्षा हेतु व्यवस्थित प्रयत्न करना शोध कहलाता है। अर्थात शोध का आधार विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति है, जिसमें ज्ञान भी वस्तुपरक होता है। तथ्यों के अवलोकन से कार्य-कारण सम्बन्ध ज्ञात करना शोध की प्रमुख प्रक्रिया है। इस अर्थ में हम स्पष्ट देख पा रहे हैं कि शोध का सम्बन्ध आस्था से कम, परीक्षण से अधिक है। शोध-वृत्ति का उद्गम-स्रोत प्रश्नों से घिरे शोधकर्मी की संशयात्मा होती है। प्रचारित मान्यता की वस्तुपरकता पर शोधकर्मी का संशय उसे प्रश्नाकुल कर देता है; फलस्वरूप वह उसकी तथ्यपूर्ण जाँच के लिए उद्यमशील होता है। स्थापित सत्य है कि हर संशय का मूल दर्शन है; और सामाजिक परिदृश्य का हर नागरिक दर्शन-शास्त्र पढ़े बिना भी थोड़ा-थोड़ा दार्शनिक होता है। संशय-वृत्ति उसके जैविक विकास-क्रम का हिस्सा होता है। यह वृत्ति उसका जन्मजात संस्कार भले न हो, पर जाग्रत मस्तिष्क की प्रश्नाकुलता का अभिन्न अंग बना रहना उसका स्वभाव होता है। प्रत्यक्ष प्रसंग के बारे में अधिक से अधिक ज्ञान हासिल करने की लालसा और प्रचारित सत्य की वास्तविकता सुनिश्चित करने की जिज्ञासा अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार हर किसी में होती है। यही लालसा जीवन के वार्द्धक्य में उसकी चिन्तन-प्रक्रिया का सहचर बन जाती है, जिसे जीवन-यापन के दौरान मनुष्य अपनी प्रतिभा और उद्यम से निखारता रहता है।

नए ज्ञान की प्राप्ति हेतु व्यवस्थित प्रयत्न को विद्वानों ने शोध की संज्ञा दी है। एडवांस्ड लर्नर डिक्शनरी ऑफ करेण्ट इंग्लिश के अनुसार--किसी भी ज्ञान की शाखा में नवीन तथ्यों की खोज के लिए सावधानीपूर्वक किए गए अन्वेषण या जाँच-पड़ताल शोध है। दुनिया भर के विद्वानों ने अपने-अपने अनुभवों से शोध की परिभाषा दी है-- मार्टिन शटलवर्थ ज्ञानोन्नयन हेतु तथ्य-संग्रह को शोध कहते हैं। क्रेसवेल लक्षित विषय-प्रसंग की समझ पुख्ता करने हेतु तथ्य जुटाकर विश्लेषण करने

की एक प्रक्रिया को शोध कहते हैं। इस प्रक्रिया में तीन चरण शमिल हैं--सवाल उठाना, उठाए हुए सवाल के जवाब हेतु तथ्य जुटाना और तदनुसार सवालों का जवाब देना।

मेरियम-वेब्स्टर ऑनलाइन शब्दकोष के अनुसार शोध का अभिप्राय एक अध्ययनशील जाँच है, जिसमें नए तथ्यों, व्यावहारिक अनुप्रयोगों, या संशोधित सिद्धान्तों के आलोक में स्वीकृत सिद्धान्तों की खोजपूर्ण, तथ्यपरक, संशोधित व्याख्या प्रस्तुत की जाती है; जो अनुसन्धान एवं अनुप्रयोग पर आधारित होती है।

वैज्ञानिक शोध में तथ्य-संग्रह और जिज्ञासा के दोहन की व्यवस्थित पद्धति है। शोध की यह पद्धति वैज्ञानिक सूचनाओं एवं सिद्धान्तों की दृष्टि से वैश्विक सम्पदा के वैशिष्ट्य की व्याख्या का अवसर देती है। शैक्षिक सन्दर्भों एवं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के अनुसार वैज्ञानिक शोध का कोटि-विभाजन किया जा सकता है।

मानविकी विषयों के शोध में लागू होनेवाली विभिन्न विधियों में प्रमुख हैं--हर्मेन्युटिक्स (hermeneutics), संकेत विज्ञान (semiotics), और सापेक्षवादी ज्ञान मीमांसा (relativist epistemology) पद्धति। बाइबिल, ज्ञान साहित्य, दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों की व्याख्या की विशेष शाखा हर्मेन्युटिक्स है। प्रारम्भ में हर्मेन्युटिक्स का प्रयोग शास्त्रों की व्याख्या या भाष्य मात्र के लिए होता था, पर बाद के दिनों में फ्रेडरिक श्लीर्मचर, विल्हेम डिल्थेनी, मार्टिन हाइडेगर, हैन्स जॉर्ज गेडेमर, पॉल रिकोयूर, नार्थरोप फ्रे, वाल्टर बेन्जामिन, जाक देरीदा, फ्रेडरिक जेमसन आदि के चिन्तन से इस पद्धति का उपयोग मानविकी विषयों की समझ बनाने में होने लगा। आधुनिक हर्मेन्युटिक्स में लिखित-मौखिक संवाद के साथ-साथ पूर्वाग्रह एवं पूर्वधारणाएँ भी शामिल हैं। हर्मेन्युटिक्स और भाष्य शब्द कभी-कभी पर्याय के रूप में उपयोग कर लिए जाते हैं, किन्तु हर्मेन्युटिक्स जहाँ लिखित-मौखिक सभी संवादों से सम्बद्ध एक व्यापक अनुशासन है, वहीं भाष्य प्रथमतः और मूलतः पाठ-आधारित व्याख्या है। ध्यातव्य है कि एकवचन रूप में हर्मेन्युटिक का अर्थ व्याख्या की विशेष विधि है।

हर्मेन्युटिक्स की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द हर्मेन्यो (*hermeneuo*) या हर्मेनियस (*hermeneus*) से हुई है, जिसका अभिप्राय है अनुवादक, दुभाषिया। यह

तकनीकी शब्द, पश्चिमी परम्परा में भाषा एवं तर्क के पारस्परिक सम्बन्धों पर विधिवत विचार करने वाली प्रारम्भिक दार्शनिक कृति (ई.पू.360) अरस्तू की पेरी हर्मेनियाज (Peri Hermeneias अर्थात *On Interpretation*) से रचा गया था। व्यवहार की दृष्टि से हर्मेन्युटिक्स का उपयोग पहले 'पवित्र' कृतियों तक ही सीमित था।

लक्षण-आधारित रोग-निदान की चिकित्सा-शाखा सेम्योटिक्स कहलाती है, पर शोध के सन्दर्भ में इसे संकेत विज्ञान समझा जाएगा, क्योंकि कोई भी भावाभिव्यक्ति अपने निहितार्थ में संकेत ही होता है। संकेत विज्ञान में अर्थाभरण, संकेत विधान, और सार्थक संवाद का अध्ययन होता है; इसके दायरे में संकेत-विधियाँ, पदनाम, समानता, सादृश्य, रूपक, प्रतीक, अर्थ, और संवाद का अध्ययन शामिल है। संकेत विज्ञान का गहन सम्बन्ध भाषा-विज्ञान से है, जहाँ भाषा की संरचना और अर्थ पर गहनता से चर्चा होती है।

सापेक्षवादी ज्ञान मीमांसा (relativist epistemology) पदबन्ध का उपयोग सर्वप्रथम स्कॉटलैण्ड के दार्शनिक फ्रेडरिक जेम्स फेरियर ने ज्ञान के विभिन्न पहलुओं से सबद्ध दर्शन की शाखाओं का वर्णन करने हेतु किया था। सारतः यह ज्ञान एवं समुचित आस्था का अध्ययन है। यह सवाल करता है कि ज्ञान क्या है और यह कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

मानविकी के विद्वान सामान्यतया किसी प्रश्न के चरम-परम समाधान की चिन्ता करने के बजाय, चतुर्दिक व्याप्त विवरणों की सूक्ष्मता पर अधिक बल देते हैं। ध्यातव्य है कि शोध में विषय-सन्दर्भ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, जातीय सन्दर्भ ही किसी विषय के शोध को दिशा देते हैं। उदाहरण के लिए मानविकी विषयों के शोध में एक ऐतिहासिक विधि लें, तो वहाँ इतिहाससम्मत तथ्य सन्निहित होगा, और यह इतिहासपरक शोध होगा। प्राथमिक स्रोतों एवं अन्य साक्ष्यों के समर्थन से कोई इतिहासकार योजनाबद्ध तरीके से अपने विषय की जाँच करता है और फिर व्यतीत का इतिहास लिखता है।

अत्याधुनिक विकास के कारण इधर ज्ञान की शाखाओं में बहुत विस्तार आया है। साहित्य-कला-संस्कृति से सम्बद्ध शोध की दिशाएँ विराट हो गई हैं। कलात्मक एवं

सृजनात्मक रचनाओं से सम्बद्ध विषय पर केन्द्रित शोध की धाराएँ बहुआयामी हो गई हैं। इसकी शोध-प्रक्रिया ज्ञान की कई शाखाओं से जा मिली हैं। ज्ञानमूल की प्राप्ति एवं तथ्यान्वेषण हेतु चिन्तन की यह नई पद्धति शुद्ध वैज्ञानिक पद्धतियों का विकल्प भी प्रदान करती है।

शोध का महत्त्व

शोध के महत्त्व को सामान्य तौर पर हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं--

- शोध मानव-ज्ञान को दिशा प्रदान करता है, ज्ञान-भण्डार को विकसित एवं परिमार्जित करता है।
- शोध से व्यावहारिक समस्याओं का समाधान होता है।
- शोध से व्यक्तित्व का बौद्धिक विकास होता है।
- शोध सामाजिक विकास का सहायक है।
- शोध जिज्ञासा-मूलक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि करता है।
- शोध अनेक नवीन कार्य-विधियों एवं उत्पादों को विकसित करता है।
- शोध पूर्वाग्रहों के निदान और निवारण में सहायक होता है।
- शोध ज्ञान के विविध पक्षों में गहनता और सूक्ष्मता प्रदान करता है।
- जॉन बेस्ट (सन् 1959) के कथनानुसार सांस्कृतिक उन्नति का रहस्य शोध में निहित है।
- शोध नए सत्यों के अन्वेषण द्वारा अज्ञान मिटाता है, सच की प्राप्ति हेतु उत्कृष्टतर विधियाँ और श्रेष्ठ परिणाम प्रदान करता है।
- किसी शोध को बेहतर शोध कहने के लिए आवश्यक है कि उसमें--
- सामान्य अवधारणाओं के उपयोग द्वारा शोध के उद्देश्यों को स्पष्टता से परिभाषित किया गया हो।
- शोध-प्रक्रिया की व्याख्या इतनी स्पष्ट हो कि सम्बद्ध प्रकरण पर आगामी शोध-दृष्टि निखरे और परवर्ती शोधार्थी इस दिशा में अनुप्रेरित हों।
- शोध-प्रक्रिया की रूपरेखा इतनी सावधानी से नियोजित हो कि उद्देश्य-आधारित परिणाम प्राप्त हो सके।

- शोध-प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कोई शोधार्थी अपने ही शोध की कमियाँ उजागर करने में संकोच न करे।
- शोध-निष्कर्ष उपयोग किए गए आँकड़ों तक ही सीमित रहे।
- शोध में उपयोग किए गए आँकड़े और सामग्रियाँ विश्वसनीय हों।
- सुपरिभाषित पद्धतियों और निर्धारित नियमों के अनुपालन के साथ किए गए शोध की प्रस्तुति में शोधार्थी की विलक्षण क्षमता के साथ सुव्यवस्थित, तार्किक कौशल स्पष्ट दिखे।

शोध के प्रमुख सोपान

शोध के प्रमुख चार सोपान होते हैं--

- ज्ञान क्षेत्र की किसी समस्या को सुलझाने की प्रेरणा।
- प्रासंगिक तथ्यों का संकलन ।
- तार्किक विश्लेषण एवं अध्ययन।
- निष्कर्ष की प्रस्तुति।

शोध की विशेषताएँ

वस्तुनिष्ठता, क्रमबद्धता, तार्किकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, यथार्थता, निष्पक्षता, विश्वसनीयता, प्रमाणिकता, तथ्यान्वेषण, समयावधि का उल्लेख एवं अनुशासनबद्धता, सन्दर्भों की सच्ची प्रतिकृति--किसी बेहतर शोध की अनिवार्य विशेषताएँ हैं।

शोध की प्रेरणा

शोधोन्मुखता की प्रेरणा सामान्यतया निम्नलिखित कारणों से मिलती है--

- शोध-प्रज्ञ की डिग्री प्राप्त कर सम्भावित लाभ की कामना।
- विषय विशेष से सम्बद्ध अनभिज्ञताओं, उलझनों, प्रश्नों, समस्याओं का हल ढूँढने की आकांक्षा।
- समाज हित में बेहतर रचनात्मक कार्य करने की इच्छा।
- यश, धन, ज्ञान, कौशल, सम्मान की लिप्सा।

- नीति अथवा नियोजन के विधान की आवश्यकता।

शोध के उद्देश्य

सामान्य तौर पर शोध का उद्देश्य निम्नलिखित होता है--

- विज्ञानसम्मत कार्यविधि और बोधपूर्ण तथ्यान्वेषण द्वारा विषय-प्रसंग-घटना, व्यक्ति एवं सन्दर्भ के बारे में सूचित समस्याओं, शंकाओं, दुविधाओं का निराकरण ढूँढना।
- विस्मृत और अलक्षित तथ्यों को आलोकित करना।
- नए तथ्यों की खोज करना।
- लक्षित विषय, वस्तु, घटना, व्यक्ति, समूह, स्थिति का सही-सही विवरण जुटाना।
- संकलित सामग्रियों का अनुशीलन, विश्लेषण करना, उनके अनुषंगी प्रकरणों से परिचित होना, एकाधिक प्रसंगों के साम्य-वैषम्य का बोध प्राप्त करना।

शोध दृष्टिकोण (Research Approach)

शोध के दौरान अपनाए जानेवाले दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं--

- मात्रात्मक दृष्टिकोण (Quantitative)
- आनुमानिक दृष्टिकोण (Inferential)
- अनुकरण दृष्टिकोण (Simulation)
- प्रयोगात्मकदृदृष्टिकोण (Experimental)
- गुणात्मक दृष्टिकोण (Qualitative)

शोध-प्रक्रिया (Research Process)

शोध-प्रक्रिया उन क्रियाओं अथवा चरणों का क्रमबद्ध विवरण है जिसके द्वारा किसी शोध को सफलता के साथ सम्पन्न किया जाता है। शोध-प्रक्रिया के कई चरण होते हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि शोध-प्रक्रिया में प्रत्येक चरण एक दूसरे पर निर्भर होता है। कोई चरण एक-दूसरे से पृथक एवं स्वतन्त्र नहीं होता।

शोध-प्रक्रिया के ववविध चरण

शोध प्रविधि (Research Methodology)

1. विषय-निर्धारण
2. शोध-समस्या निर्धारण
3. सम्बन्धित साहित्य का व्यापक सर्वेक्षण (survey of literature)
4. परिकल्पना या प्राकल्पना (Hypothesis) का निर्माण
5. शोध की रूपरेखा तैयार करना
6. तथ्य-संग्रह एवं तथ्य-विश्लेषण
7. परिकल्पना की जाँच
8. सामान्यीकरण एवं व्याख्या
9. शोध प्रतिवेदन (Research Report) तैयार करना

विषय-निर्धारण

स्वच्छन्द शोध की स्थिति में विषय चयन की प्रणाली शोधार्थी तक ही सीमित रहती है। शोधकर्ता स्वयं अपना विषय तय करता है। किन्तु शोध योजनाबद्ध तरीके का हो, उसकी कोई सांस्थानिक सम्बद्धता हो, किसी शैक्षिक संस्था से संचालित, सम्पोषित हो; उस स्थिति में विषय की चयन प्रणाली सांस्थानिक हो जाती है। फिर शोध हेतु शोधार्थी को विषय वह संस्था देती है। सूचीबद्ध चयन-प्रणाली में विषय निर्धारित करते समय शोध-पर्यवेक्षक और शोधार्थी की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। ऐसे प्रसंग में शोधार्थी और पर्यवेक्षक आपसी सहमति से शोध-विषय निर्धारित करते हैं।

शोध-समस्या निर्धारण

शोध-समस्या निर्धारण किसी शोध-प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यह शोध-प्रक्रिया का प्रथम सोपान है। यहीं से शोध की दिशाएँ खुलती हैं। पूरे शोध की सफलता शोधार्थी द्वारा निर्धारित शोध-समस्या पर ही निर्भर होती है। शोध-समस्या सामान्य अर्थों में सैद्धान्तिक या व्यवहारिक सन्दर्भो में व्याप्त वह कठिनाई होती है, जिसका समाधान शोधार्थी अपने शोध के दौरान करना चाहता है। शोध-समस्याएँ निर्धारित करते समय हर शोधार्थी को निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए--

- कोई न कोई व्यक्ति, समूह अथवा संगठन हर वातावरण की समस्या से अवश्य ही सम्बद्ध रहता है।

- समस्या-समाधान हेतु शोधार्थियों को कम से कम दो कार्य-प्रणालियों के साथ आगे बढ़ना चाहिए। कार्य-प्रणाली से तात्पर्य उस तरीके से है जिसके अधीन संचालित एक या एक से अधिक मूल्य परिभाषित होते हैं।
- कार्य-प्रणाली का प्रयोग करते हुए ध्यान रखना चाहिए कि हर समस्या के कम से कम दो सम्भावित परिणाम सामने हों, जिनमें से एक की तुलना में शोधार्थी को दूसरा परिणाम अधिक उपयुक्त लगता हो। अभिप्राय यह कि शोधार्थी के समक्ष कम से कम एक ऐसा परिणाम अवश्य हो, जो उसके उद्देश्य को पूरी तरह पूरित करता हो।
- कार्य-प्रणालियाँ समान न हों, एक दूसरे से भिन्न हों, किन्तु वे लक्षित उद्देश्यों पर आधारित कार्य करने की सुविधा देने वाली हों।

प्रसिद्ध अमेरिकी सिद्धान्तकार रसेल लिंकोन एकॉफ (Russell.Lincoln. Ackoff : *The Design of Social Research*, Chicago University Press, 1961) शोध-समस्या निर्धारण में शोध-उपभोक्ता (Research Consumer) का भी संज्ञान लेते हैं। शोध की परिणति जिनके लिए उपयोगी है, वे शोध-उपभोक्ता हैं। कोई शोध किसी शोधार्थी के लिए जितना भी महत्त्वपूर्ण हो जाए, पर उनके शोध का सारा महत्त्व शोध-परिणति के उपभोक्ता के जीवन में उसकी सार्थकता-निरर्थकता से निर्धारित होता है। कोई उपभोक्ता किसी शोध-परिणति का उपयोग किस उद्देश्य से करता है, इससे शोध उपभोक्ता का उद्देश्य (Research Consumer's Objective) निर्धारित होता है। जाहिर है कि शोध-समस्या निर्धारित करते समय शोध-उपभोक्ताओं के उद्देश्य का खास खयाल रखना चाहिए। शोध-समस्या निर्धारण में निश्चय ही इससे स्पष्टता आएगी। उद्देश्य स्पष्ट हो, समस्याएँ निर्धारित हों, तो निदान सहजता से होता है। उद्देश्य-पूर्ति के वैकल्पिक साधन सरलता से दिखने लगते हैं।

इस क्रम में शोधार्थी के लिए यह भी आवश्यक है कि उसे अपनी ही कार्य-प्रणाली के चयन में संशय (Doubt with regard to selection of course of action) हो। आत्मसंशय किसी काम को बार-बार ठोक-बजाकर पुख्ता करने की प्रेरणा जगाता है। शोध-प्रक्रिया के दौरान परीक्षण एवं अनुशीलन के प्रति आश्वस्त होने का यह बेहतरीन उद्यम होता है। इसके साथ-साथ शोध-समस्या निर्धारण की

हर प्रक्रिया में यह भी ध्यान रखा जाता है कि प्रस्तावित शोध में कम से कम एक वातावरण ऐसा अवश्य हो जो समस्यामूलक हो, जिसके निदान के लिए अग्रसर रहा जाए।

शोध-समस्या निर्धारण की सावधानी

शोध-समस्या का चुनाव करते समय कुछ बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है; वे बातें निम्नलिखित हैं--

- जिस विषय पर अत्यधिक कार्य हो चुका है, उस पर कोई नई रोशनी डालना कठिन होता है, इसलिए वैसे विषयों के चयन से परहेज करना चाहिए।
- शोध-समस्या न तो अत्यन्त संकीर्ण होना चाहिए, न अत्यधिक विस्तृत। दोनों ही स्थितियाँ नुकसानदेह होती हैं। संकीर्णता की स्थिति में विषय-प्रसंग पर कार्य करने की सुविधा नहीं होती, तो व्यापकता की स्थिति में लक्ष्यकेन्द्रित शोध की प्रेरणा नहीं जगती।
- शोध का विषय परिचित और सम्भाव्य क्षेत्र का होना चाहिए ताकि शोधार्थी यथोचित तथ्य, सामग्री, संसाधन आसानी से जुटा सके।
- शोध-समस्या निर्धारण के समय शोधार्थी को विषय के महत्त्व एवं उपादेयता के साथ-साथ अपनी योग्यता, प्रशिक्षण, और समय, धन एवं शक्ति के अनुमानित व्यय का सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए ।
- विषय-निर्धारण से पूर्व शोधार्थी को यथासम्भव प्रारम्भिक अन्वेषण कर लेने के बाद ही इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए।
- विषय-निर्धारण के समय शोधार्थी को अपनी क्षमता एवं विषय की जटिलता का विधिवत अनुशीलन कर लेना चाहिए। कोई औसत क्षमता का शोधार्थी कोई विवादास्पद विषय का चुनाव कर ले, तो ऐसा शोध उनके लिए जंजाल बन जा सकता है। ऐसी स्थिति से बचना चाहिए।

शोध की रूपरेखा

शोध-संकल्पना तैयार कर लेने के बाद हर शोधार्थी अपने अनुभवजन्य संकल्पना की जाँच हेतु एक शोध-प्रारूप बनाता है। यह क्रिया उस स्थापत्य अभियन्ता के उद्यम जैसा होता है जो भवन-निर्माण से पूर्व तत्सम्बन्धी सारी व्यवस्था करता है--मकान

का उद्देश्य, स्वरूप-संकल्पना, संरचना, सामग्री के स्रोत, संसाधन, अनुमानित व्यय, पूर्व-पश्चात की जनप्रतिक्रियाएँ... सारी बातों का अनुमानित निर्णय वह पूर्व में ही कर लेता है, अर्थात् अपनी योजना का एक आदर्श आधार वह तैयार कर लेता है। अपने शोध के सन्दर्भ में शोधार्थी भी इसी तरह अपनी योजना का एक आदर्श आधार तैयार कर लेता है, संकलित तथ्यों के विश्लेषण-विवेचन से उसके बारे में सारा निर्णय कर लेता है। शोध-प्रारूप वस्तुतः शोध के प्रारम्भ से अन्त तक की अभिकलित कार्य-योजना है, जिसमें शोधार्थी की पूरी कार्य-पद्धति दर्ज रहती है। आत्मस्फुरण से, अभिज्ञान से अथवा पर्यवेक्षक एवं सन्दर्भों के सहयोग से, जैसे भी हो, शोध-प्रारूप के रूप में शोधार्थी वस्तुतः अपने लिए एक स्वनिर्मित विधान पंजीकृत कराता है, जिसका अनुशरण करते हुए वह अपने लक्षित उद्देश्य तक पहुँच जाने की अश्वस्ति पाता है। प्रारूप बनाते समय शोधार्थी अपने अध्ययन के सामाजिक एवं आर्थिक सन्दर्भ का भी खास खयाल रखता है।

शोध-प्रारूप से ही विषय की तार्किक समस्या का संकेत मिलता है। सचाई यह भी है कि शोध-प्रारूप कोई अलादीन का चिराग नहीं है। तमाम गुणवत्ताओं के साथ ऐसा भी नहीं मान लेना चाहिए कि शोध-प्रारूप कोई व्यास रचित जयकाव्य है, जो कहीं है, वह यहाँ है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। ऐसा शोध-प्रारूप में नहीं होता। शोध-प्रारूप असल अर्थ में आत्मसंयम की एक कुँजी है, कभी-कभी कोई-कोई ताला इस कुँजी से नहीं भी खुल सकता है। इसीलिए इसे प्रारूप कहा जाता है। प्राप्त बोध, अनुभव, एवं सन्दर्भ के सहारे बनाई गई यह कार्य-योजना पूरे शोध के लिए पर्याप्त हो ही, यह आवश्यक भी नहीं है; देश-काल-पात्र के अनुसार, कार्य-प्रगति के दौरान कभी-कभी लक्षित उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उस निर्धारित प्रारूप से इतर भी जाना पड़ जा सकता है; ऐसी स्थिति में किसी शोधार्थी को किसी धर्मसंकट में नहीं पड़ना चाहिए। शोध-प्रारूप शोध-कार्य सम्पन्न करने का साधन है, साध्य नहीं; आचरण है, धर्म नहीं। शोध-सामग्री एकत्र करने के क्रम में ऐसी असंख्य उलझनें उपस्थित हो जा सकती हैं, जिसका तनिक भी भान प्रारम्भ में नहीं हो पाता। इसलिए शोध की रूपरेखा तैयार कर लेने के बाद किसी शोधार्थी को उतना बेफिक्र भी नहीं हो जाना चाहिए। तथ्य-संग्रह के मार्ग में उत्पन्न होने वाली सभी समस्याओं का संकेत प्रारम्भ में नहीं भी मिल सकता है।

शोध-प्रारूप दरअसल शोध से पूर्व किए गए निर्णयों की एक ऐसी शृंखला है, जो पूरे शोध-कार्य के दौरान शोधार्थी की गतिविधियों को मार्ग निर्देश देती रहती है। निर्णय के क्रियान्वयन की स्थिति आने के पूर्व निर्णय निर्धारित करने की प्रक्रिया को रसेल लिंकोन एकॉफ शोध-प्रारूप कहते हैं।

कह सकते हैं कि अपने सम्पूर्ण प्रभाव के साथ शोध-प्रारूप एक व्यवस्था है, जिसके द्वारा शोध के दौरान उपस्थित बेहिसाब विधियों की तामझाम से बचते हुए लक्ष्य केन्द्रित सन्धान हेतु प्राप्त सामग्रियों और विश्लेषणों को समायोजित किया जाता है।

शोध-प्रारूप का उद्देश्य शोध-प्रश्नों का उत्तर खोजने की तरकीब ढूँढना, शोध के दौरान उपस्थित असंगतियों को नियन्त्रित करना होता है। इसके सहारे शोधार्थी उन स्थितियों को नियन्त्रित करता है, जिनके प्रभावों का अध्ययन वह नहीं करना चाहता।

प्रारूप में तथ्य-संग्रह के स्रोत--दस्तावेज, पुस्तक, सर्वेक्षण, पत्रिका, वेबलिंक, इण्टरनेट आदि और अध्ययन का प्रकार--ऐतिहासिक, तुलनात्मक, मिश्रित आदि पद्धति की सूचनाएँ रहती हैं। शोध की विधियों--सर्वेक्षण विधि, सांख्यिकीय विधि आदि तथा शोध के विभिन्न चरणों की निर्धारित समयावधि का उल्लेख भी यथासम्भव वहाँ होता है।

शोध-प्रारूप अपने नामानुकूल प्रारूप ही होता है। पर इसमें इतना लोच होता है कि प्रयोजन पड़ने पर उसमें असवश्यक परिवर्तन किया जा सकता है। इसके अलावा अपनी संरचना में ही वह प्रमाणिकता, विश्वसनीयता, उचित अवधारणाओं के चयन में सावधानी के लिए दृढ़ एवं सुचिन्तित होता है। उसकी संरचना परिस्थिति, प्रयोजन, उद्देश्य एवं शोधार्थी की क्षमता (समय, धन, शक्ति) पर आधारित होती है, और उसमें व्यावहारिक मार्गदर्शकों का समावेश किया जाता है।

शोध-विषय, शोधार्थी, शोध-पर्यवेक्षक तथा उपलब्ध सामग्री ही अन्ततः किसी शोध-प्रारूप के निर्धारक तत्त्व होते हैं; इन्हीं घटकों की गुणवत्ता से शोध-प्रारूप और शोध की गुणवत्ता रेखांकित होती है।

सामग्री संकलन

किसी शोध-कार्य के प्राथमिक उद्यमों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री-संकलन का काम होता है। विषय-वस्तु से सम्बन्धित तथ्यों के संकलन की सावधानी और विश्वसनीयता ही किसी शोध-कार्य को उत्कर्ष एवं महत्ता देती है। इसमें शोधार्थी की निष्ठा का बड़ा महत्त्व होता है। सामग्री-संकलन को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है--

प्राथमिक सामग्री: प्राथमिक सामग्री किसी शोध के लिए आधार-सामग्री होती है। इसी के सहारे कोई शोधकर्मी अपने अगले प्रयाण की ओर बढ़ता है। इन सामग्रियों का शोध-विषय से सीधा सम्बन्ध होता है। अपने शोध-विषय से सम्बद्ध समस्याओं के समाधान हेतु शोधार्थी विभिन्न स्रोतों, संसाधनों, उद्यमों से सामग्री एकत्र करते हैं। विभिन्न अवलोकनों, सर्वेक्षणों, प्रश्नावलियों, अनुसूचियों अथवा साक्षात्कारों द्वारा वे तथ्य के निकट पहुँचने की चेष्टा करते हैं। उनके द्वारा संकलित ये ही तथ्य-स्रोत प्राथमिक सामग्री कहलाते हैं। ऐसे तथ्यों का संकलन शोधार्थी प्रायः अध्ययन-स्थल पर जाकर करते हैं। समाज-शास्त्र विषयक शोध-सामग्री-संग्रह के ऐसे स्रोत को क्षेत्रीय-स्रोत भी कहा जाता है।

प्राथमिक सामग्री-संकलन की कई विधियाँ होती हैं। सूत्रबद्ध करने हेतु इसकी पहली विधि का नाम सामान्य तौर पर प्रत्यक्ष अवलोकन दिया जाता है। साहित्यिक विषयों से सम्बद्ध शोध के लिए इस विधि में वे कार्य आएँगे, जिसमें शोधार्थी अपने शोधविषयक मूल-सामग्री प्राप्त करने हेतु सूचित स्थान पर जाते हैं, अथवा सूचित व्यक्ति से मिलते हैं, और सूचित सामग्री को अपनी नजरों से स्वयं देखते हैं, अपनी ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई शोधार्थी का विषय रामकथा के कुमायूँनी प्रदर्शन से सम्बद्ध है, तो कुमायूँ क्षेत्र में जाकर वहाँ के रामकथा की मंचीय प्रस्तुति स्वयं देखना और उसे किसी सम्भव माध्यम में सुरक्षित कर लेना तद्विषयक प्रत्यक्ष अवलोकित तथ्य-संग्रह, या सामग्री-संकलन हुआ। सामाजिक शोध में प्रत्यक्ष अवलोकन ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य स्रोत है। इस पद्धति के अन्तर्गत शोधार्थी स्वयं अध्ययन स्थल पर जाकर अपने विषय से सम्बन्धित घटनाओं तथा व्यवहार का अवलोकन कर सूचना एकत्र करते हैं। समाज के रहन-सहन, आचार-व्यवहार, भाषा, त्यौहार, रीति-रिवाजों के बारे में अध्ययन करने के लिए यह विधि सबसे अधिक उपयोगी और विश्वसनीय है। इस विधि का इस्तेमाल

सबसे पहले सन् 1017 में फारसी विद्वान अल-बिरुनी ने अपनी भारत और श्रीलंका यात्रा में किया था। अल-बिरुनी ने भारतीय उपमहाद्वीप में रहकर, वहाँ की भाषाएँ सीखकर तुलनात्मक अध्ययन द्वारा वहाँ के समाज, धर्मों और परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत किया था। आधुनिक अर्थ में इस विधि का उपयोग सबसे पहले आधुनिक मानवविज्ञान के पिता कहे जाने वाले अमेरिकी मानवविज्ञानी फ्रांज बोआज (सन् 1858-1942) ने शुरू किया। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन, इयुगिन पेत्रोविच चेलिशेव, लिण्डा हेस्स जैसे शोधवेत्ता इस प्रसंग के लिए बेहतरीन उदाहरण हैं। वर्तमान में इस विधि का सबसे अधिक उपयोग समाजशास्त्र, सांस्कृतिक मानवविज्ञान, भाषाविज्ञान तथा सामाजिक मनोविज्ञान में होता है।

इसकी दो पद्धतियाँ हैं--सहभागी अवलोकन एवं असहभागी अवलोकन। सहभागी अवलोकन में शोधार्थी सर्वेक्षण-निरीक्षण में प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न (किसी को बताए बिना) रूप से सहभागी रहता है। पागल लोगों के अस्पताल से सम्बन्धित अपने अध्ययन के दौरान प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री एर्विंग गॉफमैन ने सन् 1968 में प्रच्छन्न सहभागी के रूप में एक पागलखाने में खेल प्रशिक्षक बन कर अवलोकन किया था। प्रत्यक्ष सहभागी अवलोकन में शोधार्थी के शोध के बारे में कुछ ही लोगों को पता होता है। प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री विलियम व्हाइट ने अपनी शोध-पुस्तक स्ट्रीट कॉर्नर सोसाइटी (1943) के लिए बॉस्टन शहर के इतालवी-अमेरिकी गिरोहों की सामाजिक स्थिति के बारे में शोध करते हुए प्रत्यक्ष सहभागी अवलोकन पद्धति का इस्तेमाल किया था। उनके उस शोध के बारे में गिरोह के सरगना को जानकारी थी।

असहभागी अवलोकन में शोधार्थी सर्वेक्षण-निरीक्षण में सहभाग लिए बिना, एक दर्शक या श्रोता होता है। प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न असहभागी अवलोकन की स्थिति यहाँ भी होती है। प्रत्यक्ष असहभागी अवलोकन में अवलोकित व्यक्ति या समूह को अपने अवलोकित होने की जानकारी रहती है, जैसे दूरदर्शन के किसी रीयल्टी शो के प्रतिभागियों को उनके दिखाए जाने की बखूबी जानकारी होती है, जबकि प्रच्छन्न अवलोकन में अवलोकित व्यक्ति या समूह को अपने अवलोकित होने की जानकारी नहीं रहती। सन् 2015 में एन.डी.टी.वी. इण्डिया ने सर्वेक्षण की एक शृंखला शुरू की थी; जिसमें सुनियोजित ढंग से उनके द्वारा सुनिश्चित व्यक्ति ही रहते थे। उस

शृंखला में बुजुर्गों, विकलांगों के प्रति आम नागरिक की संवेदनशीलता, या कि युवती के गोरी-साँवली होने के मसलों को लेकर आम नागरिकों की धारणाएँ जानने का उद्यम किया गया था। उनके कुछ कलाकार किसी सार्वजनिक स्थल पर जाकर वहाँ उपस्थित किसी बुजुर्ग, विकलांग, या साँवली युवती पर अशोभनीय टिप्पणी कर देते थे; आसपास उपस्थित आम नागरिक उनके इस आचरण पर उग्र हो जाते थे। नागरिक उग्रता चरम पर पहुँचने से पूर्व ही छिपकर शूटिंग कर रही उनकी कैमरा टीम सामने आ जाती थी, और अपने शोध का रहस्योद्घाटन कर देती थी। एन.डी.टी.वी. इण्डिया के इस सर्वेक्षण को ऐसे ही अप्रत्यक्ष अवलोकन की श्रेणी में रखा जा सकता है। ऐसा अवलोकन बहुधा फोटोग्राफी, वीडियोग्राफी आदि की मदद से होता है, छोटे बच्चों या जानवरों पर किए जाने वाले शोध में इसका उपयोग किया जाता है।

प्रश्नावली: शोध-कार्य के दौरान प्रश्नावली एक महत्त्वपूर्ण शोध-उपकरण है। इसमें प्रश्नों की क्रमबद्ध सूची होती है। इसका उद्देश्य अध्ययन विषय से सम्बन्धित प्राथमिक तथ्यों का संकलन करना होता है। जब अध्ययन क्षेत्र बहुत विस्तृत हो, प्रत्यक्ष अवलोकन सम्भव न हो, या फिर शोधार्थी के प्रत्यक्ष अवलोकन से सारे तथ्यों की उपलब्धता सन्दिग्ध हो, तो इस पद्धति का उपयोग किया जाता है।

सामाजिक-साहित्यिक शोध के दौरान प्राथमिक सर्वेक्षण और तथ्य संग्रह में प्रश्नावली का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इसमें विषय की समस्या से सम्बन्धित प्रश्न रहते हैं। आम तौर पर सर्वेक्षण के लिए इसके अलावा अनुसूची का भी प्रयोग किया जाता है। क्योंकि प्रश्नावली एवं अनुसूची--दोनों समान सिद्धान्तों पर आधारित होती हैं। इसी आधार पर लुण्डबर्ग ने प्रश्नावली को एक विशेष प्रकार की अनुसूची माना, जो प्रयोग की दृष्टि से अपनी निजता स्थापित करती है।

विषय विशेषज्ञों अथवा विषय-प्रसंग से सम्बद्ध लोगों से सूचना प्राप्त करने हेतु बनाए गए प्रश्नों की सुव्यवस्थित सूची को प्रश्नावली की संज्ञा दी जाती है; अर्थात प्रश्नावली में अध्ययन-अनुशीलन से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर पहले से तैयार किए गए प्रश्नों का समावेश होता है। उत्तरदाता की सुविधा अथवा सदाशयता के अनुसार शोधार्थी उन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करते हैं। ये उत्तर भारतीय डाक अथवा ई-मेल अथवा आमने-सामने पूछकर प्राप्त किए जा सकते हैं।

प्रश्नावली तैयार करने में अन्ततः शोधार्थी की शोध-दृष्टि का बड़ा महत्त्व होता है। कई विशेषज्ञों के लिए एक ही प्रश्नावली हो सकती है, पर कई बार उत्तरदाता की विशेषज्ञता के आधार पर प्रश्नावली अलग-अलग भी होती है।

उत्तरदाता यदि पढ़े-लिखे न हों, तो लिखित प्रश्नावली काम नहीं आती। उस स्थिति में साक्षात्कार पद्धति का सहारा लिया जाता है। प्रश्नावली के प्रश्न मुख्य रूप से हाँ या नहीं जैसे उत्तर वाले भी हो सकते हैं, और विवरणात्मक उत्तर वाले भी। प्रश्नावली का यह भेद शोध-प्रसंग की समस्याओं के फलक से निर्देशित होता है।

प्रश्नावली तैयार करते समय प्रश्नों की स्पष्टता और विशिष्टता पर शोधार्थी को हमेशा सावधान रहना होता है। भ्रामक प्रश्नों से हमेशा बचना होता है। दोषपूर्ण प्रश्नों के उत्तर से शोध-दिशा किसी द्वन्द्व का शिकार हो जा सकती है। प्रश्नों में अप्रचलित शब्दावली के प्रयोग से बचना इसमें बड़ा सहायक होता है।

लिखित प्रश्नावली का डाक द्वारा उत्तर प्राप्त करने के क्रम में तो प्रश्नों की सरलता और स्पष्टता का विशेष ध्यान रखा जाता है, क्योंकि उस वक्त शोधार्थी उत्तरदाता के पास स्वयं उपस्थित नहीं रहता, जाहिर है कि तब प्रश्न की अस्पष्टता के कारण उत्तरदाता दिग्भ्रान्त हो जाएँगे। ऐसी दशा में उत्तरदाता प्रश्नों का अपेक्षित अर्थ लगाकर उसका सही-सही जवाब दे देंगे--ऐसी अपेक्षा रखना सन्दिग्ध होगा।

प्रश्नों का संक्षिप्त और श्रेणीबद्ध होना लक्ष्योन्मुखी जवाब के लिए लाभदायक होता है। संक्षिप्त और श्रेणीबद्ध प्रश्न से उत्तरदाता को जवाब देने में सुविधा होती है, कहीं संशय उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्नों में शोधार्थी की ओर से किसी प्रकार का ऐसा आग्रह नहीं होना चाहिए जिससे उत्तरदाता किसी तरह प्रभावित होकर प्रभावित उत्तर दें। बेवजह और अप्रासंगिक प्रश्नों से बचना भी जरूरी होता है।

उत्तरदाता के गोपनीय प्रसंगों-धारणाओं से सम्बद्ध प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिए। किसी भी प्रश्न में व्यंग्यात्मक, लांछित, अथवा अभद्र धारणा का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

प्रश्नावली के निर्माण में कागज की कोटि, आकार, लिखावट आदि के सौष्ठव पर भी ध्यान देना एक वाजिब उपक्रम है, ताकि उत्तरदाता उसे देख कर खिन्न न हो उठें। उत्तरदाता की खिन्नता से वांछित उत्तर मिलने की सम्भावना संदिग्ध हो जाती है।

प्रश्नावली तथ्य-संग्रह की एक प्रमुख विधि है। इसमें उत्तरदाता पूछे गए प्रश्नों को स्वयं समझकर जवाब देते हैं। जाहिर है कि प्रश्न उस कोटि के हों, जो एक तरह से उत्तरदाता के ज्ञान के आधार-क्षेत्र को उद्‌बुद्ध करे, उसकी समझ को विस्तार दे। इसके लिए प्रश्नावली बनाते समय शोधार्थी को सावधान रहना होता है, उन्हें ध्यान रखना होता है कि प्रश्नावलियों की निर्माण-विधि वे इस तरह व्यवस्थित करें कि शोधार्थी की मदद लिए बिना ही उत्तरदाता प्रश्नों को भली-भाँति समझ जाएँ, अपने ज्ञान के आधार-क्षेत्र को उद्‌बुद्ध कर लें, और पूछे गए प्रश्नों का मुनासिब उत्तर दे दें। स्पष्टतः प्रश्नावली जितनी सुव्यवस्थित होगी, शोध के लिए सामग्री-संकलन उतना ही उपयोगी होगा। वांछित परिणाम पाने के लिए प्रश्नों की उपयुक्तता, तथ्यपरकता और सहजता अत्यावश्यक है।

द्वितीयक सामग्री : लक्षित विषय-प्रसंग के बारे में पहले से ही उपलब्ध अथवा संकलित सामग्री को द्वितीयक सामग्री कहते हैं। इसके अन्तर्गत वे समस्त सामग्रियाँ एवं सूचनाएँ आती हैं जो प्रकाशित या अप्रकाशित रूप में कहीं न कहीं उपलब्ध हैं। लक्षित विषय-प्रसंग से सम्बद्ध सन्दर्भ-ग्रन्थ, सम्बद्ध सरकारी विभागों में उपलब्ध सूचनाएँ आदि इसके उदाहरण हैं। इन्हें सहायक सामग्री अथवा प्रलेखीय स्रोत भी कहा जाता है।

द्वितीयक सामग्री के प्रकाशित स्रोतों में प्रमुख हैं--पुस्तकालयों-संग्रहालयों में उपलब्ध सन्दर्भ-ग्रन्थ, सरकारों के वार्षिक प्रतिवेदन, सर्वेक्षण, योजना-प्रतिवेदन, जनगणना रिपोर्ट, पत्र-पत्रिकाएँ, समाचार-पत्र, पुस्तकें आदि। अप्रकाशित स्रोतों में प्रमुख हैं--हस्तलिखित सामग्री, डायरी, लेख, पाण्डुलिपि, पत्र, विभिन्न संस्थाओं में संकलित अप्रकाशित सामग्री आदि। इसके साथ-साथ गूगल-पुस्तक या सूचना-तन्त्र के वेबलिंक भी इन दिनों बड़े महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

द्वितीयक सामग्री का चुनाव करते समय सामग्री की विश्वसनीयता, उपयुक्तता, एवं पर्याप्तता पर खास तरह की सावधानी रखने की जरूरत होती है।

संकलित तथ्यों का विश्लेषण एवं व्याख्या

शोध-कार्य के दौरान संकलित तथ्यों का विश्लेषण एवं व्याख्या शोध का महत्त्वपूर्ण सोपान है। वैज्ञानिक परिणाम प्राप्त करने के लिए तथ्यों का विश्लेषण और उनकी व्याख्या अत्यावश्यक है। सामग्री के विश्लेषण एवं व्याख्या में घनिष्ठ सम्बन्ध है। विश्लेषण का मुख्य कार्य व्याख्या की तैयारी करना है। अर्थात विश्लेषण का कार्य जहाँ समाप्त हो जाता है, वहीं से व्याख्या शुरू होती है। विश्लेषण से प्राप्त सामान्य निष्कर्षों को व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं तार्किक रूप में प्रकट करना व्याख्या कहलाता है।

पी.वी यंग के अनुसार विश्लेषण शोध का रचनात्मक पक्ष है। विश्लेषण और व्याख्या के पूर्व प्राप्त तथ्यों का सम्पादन कर संकलित सामग्री की कमियाँ दूर की जाती हैं। द्वितीयक तथ्यों की विश्वसनीयता, उपयुक्तता और पर्याप्तता जाँची जाती है। तथ्यों का वर्गीकरण किया जाता है। व्याख्यात्मक तथ्यों को संकेतों या प्रतीकों द्वारा प्रकट किया जाता है। इससे विश्लेषण में आसानी हो जाती है।

शोध प्रतिवेदन अथवा शोध प्रबन्ध लेखन

शोध-प्रतिवेदन तैयार करना शोध-प्रक्रिया का अन्तिम चरण है। इसका उद्देश्य जिज्ञासु लोगों तक शोध के बारे में व्यवस्थित, विस्तृत और लिखित परिणाम पहुँचाना होता है। शोध प्रतिवेदन में शोध के उद्देश्य, क्षेत्र, प्रविधियाँ, संकलित तथ्यों का विवरण, विश्लेषण, व्याख्या और निष्कर्ष आदि लिखित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जब तक शोधार्थी अपना शोध लिखित रूप में प्रस्तुत नहीं करता, शोध-कार्य पूर्ण नहीं माना जाता। प्रतिवेदन द्वारा ही शोध-सम्मत ज्ञान दूसरों तक पहुँचाया जाता है। हरेक अनुशासन में शोध-प्रतिवेदन प्रस्तुत करने की विशेष शैली होती है।

शोध-प्रतिवेदन के दो भाग होते हैं--प्राथमिक भाग तथा मुख्य भाग। प्राथमिक भाग के प्रमुख उपभाग होते हैं--मुखपृष्ठ, शोध निर्देशक का प्रमाण-पत्र, शोधार्थी की घोषणा, समर्पण, कृतज्ञता ज्ञापन, तालिकाओं और आरेखों की सूची, संकेताक्षरों की सूची, अनुक्रमणिका। शोध-प्रतिवेदन के मुख्य भाग अध्यायों में बँटे होते हैं। अध्यायों के विभाजन में उपभागों का ध्यान रखा जाता है। इसमें मुख्य उपभाग होते हैं--प्रस्तावना, विषय से सम्बद्ध पूर्व के अध्ययनों का विवरण, उपलब्ध सामग्री और शोध-प्रक्रिया, तथ्यों का विश्लेषण, विवेचन, व्याख्या, निष्कर्ष, सन्दर्भ-

भाग, परिशिष्ट। शोध-प्रतिवेदन के मुख्य भाग का प्रवेश-द्वार प्रस्तावना होता है, इसलिए प्रस्तावना में विषय-प्रसंग का परिचय, समस्या-निदान की विधियों के संकेत, विषय-क्षेत्र एवं परीक्षण हेतु प्रस्तुत परिकल्पना आदि की जानकारी दी जाती है। बीच के उपभाग अध्यायों में विभक्त होते हैं। निष्कर्ष के बाद शोध-प्रतिवेदन के सन्दर्भ-भाग होते हैं, इस भाग में शोध के दौरान उपयोग की गई आधार-सामग्री, सहायक-सामग्री, अर्थात् व्यवहृत ग्रन्थों, सन्दर्भों, सन्दर्भ-ग्रन्थों कीअलग-अलग व्यवस्थित सूची दी जाती है। इसमें पूरे विवरण के साथ पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, इण्टरनेट के सन्दर्भों, वेबलिंकों की अलग-अलग सूची दी जाती है। इससे आगे का उपभाग परिशिष्ट होता है। यहाँ शोध से सम्बद्ध वैसी बची-खुची सूचनाएँ यथायुक्त उपशीर्षक बनाकर दी जाती हैं, जो पूरी तरह उपयुक्त नहीं होने के कारण प्रबन्ध या प्रतिवेदन के मध्य-भाग में नहीं दी सकी; किन्तु शोधार्थी को ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी जनोपयोग में जानी चाहिए। इसमें विषय अथवा लेखक के अनुसार सूची-पत्र अथवा अन्य आँकड़े बनाए जाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची की पद्धति

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शोध के प्रारूप एवं शैली सम्बन्धी कई विधियाँ इस समय चलन में हैं। इन दिनों दो विधियाँ व्यवहार में अधिक हैं--एम.एल.ए. (मॉडर्न लैंग्वेज एशोसिएशन) फॉर्मेटिंग एण्ड स्टाइल गाइड तथा ए.पी.ए. (अमेरिकन साइकोलॉजिकल एशोसिएशन) फॉर्मेटिंग एण्ड स्टाइल गाइड। इस निर्देशिका में पूरे प्रतिवेदन अथवा प्रबन्ध लेखन से सम्बन्धित सभी सुझाव दिए गए हैं। शोधार्थी जिसे चाहें, या कि जो उन्हें सुविधाजनक लगे, उसका अनुशरण कर सकते हैं; पर ध्यान रहे कि जिस शैली को अपनाएँ, पूरे प्रबन्ध में उसी का अनुगमन करें, अन्यथा प्रबन्ध में कई भ्रन्तियाँ अनावश्यक आ जाएँगी। इसके साथ ही, भाषा-संरचना, वर्तनी, भाषा का शिल्प, स्वरूप एवं संस्कार...अदि की एकरूपता सम्बन्धी जो सुझाव किसी निर्देशिका में उल्लिखित नहीं होती, शोधार्थी को उसका भी ध्यान रखना चाहिए। खासकर हिन्दी के प्रबन्ध-लेखन में इसकी बड़ी आवश्यकता है। उदाहरण के लिए--

हिन्दी में किसी चिन्तक या विद्वान के नामोल्लेख में आदरसूचक क्रियापद अथवा सर्वनाम लगाने की परम्परा है। पर, इधर के लोग अब अंग्रेजी की नकल में सामान्य क्रियापद अथवा सर्वनाम लगाने लगे हैं।

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चन्दवरदाई पर विस्तार से लिखते हैं, पर महाकवि विद्यापति के बारे में वे संक्षिप्त टिप्पणी से काम चलाते हैं।
2. रामचन्द्र शुक्ल चन्दवरदाई पर विस्तार से लिखता है, पर विद्यापति के बारे में वह संक्षिप्त टिप्पणी से काम चलाता है।

उक्त दोनो पद्धतियों में शोधार्थी जिसका अनुगमन करें, पूरे प्रतिवेदन अथवा पूरे प्रबन्ध में उसकी एकरूपता रखें। भाषा के मानक रूप का प्रयोग सर्वथा प्रशंसनीय होता है। वर्तनी की एकरूपता; व्यक्ति, स्थान, कालावधि, आन्दोलन आदि के नाम अथवा पारिभाषिक शब्दावली आदि के हिज्जे पूरे प्रबन्ध में समान होने चाहिए।

शोधार्थी से इसी तरह की सावधानी की अपेक्षा सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची प्रस्तुत करते हुए की जाती है। वे ध्यान रखें कि जिस विधि को अपनाएँ, पूरे प्रबन्ध में उसी का अनुशरण करते हुए एकरूपता रखें।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची प्रस्तुत करने की एम.एल.ए. शैली

कुल-नाम, आदि-नाम, कृति शीर्ष, प्रकाशन-स्थल, प्रकाशक, प्रकाशन-वर्ष, माध्यम।

एक लेखक वाली पुस्तक

तिवारी, भोलानाथ, भाषाविज्ञान, इलाहाबाद, किताब महल, षष्ठ संस्करण, 1967, मुद्रित।

एक सम्पादक वाली पुस्तक

कथुरिया, सुन्दरलाल (सम्पा.), दिल्ली, आधुनिक साहित्य: विविध परिदृश्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1973, मुद्रित।

दो लेखकों वाली पुस्तक

इस स्थिति में सारी बातें वैसी ही होतीं, केवल दूसरे लेखक का नाम सीधे-सीधे अंकित होता है।

सूद, रमा एवं मीरा सरीन, हिन्दी-खासी द्विभाषी कोश, आगरा, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, प्रथम संस्करण, 1985, मुद्रित।

दो-तीन से अधिक लेखकों वाली पुस्तक

दो-तीन से अधिक लेखक हों, तो पहले लेखक का नाम उल्लिखित पद्धति से सूचीबद्ध कर अन्य लेखकों के लिए 'एवं अन्य', या फिर पहला नाम उक्त पद्धति से दर्ज कर शेष नाम पुस्तक के शीर्ष-पृष्ठ पर दर्ज क्रम में सूचीबद्ध कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ--

सूद, रमा एवं अन्य, हिन्दी-खासी द्विभाषी कोश, आगरा, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, प्रथम संस्करण, 1985, मुद्रित।

अथवा

सूद, रमा, मीरा सरीन, पंकज तिवारी, एवं लोहित भट्ट, हिन्दी-खासी द्विभाषी कोश, आगरा, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, प्रथम संस्करण, 1985, मुद्रित।

एक ही लेखक की दो या अधिक पुस्तकें

इस स्थिति में उस लेखक की सारी कृतियों का उल्लेख एक ही जगह होता है। सभी कृतियों की सूची वर्णानुक्रम में दी जाती है। हर कृति के साथ लेखक का नाम अंकित करने की आवश्यकता नहीं होती। सिर्फ एक बार पूर्वोक्त पद्धति से लेखक का नाम दर्ज होता है, दूसरी कृति के साथ लेखक के नाम की जगह हाइफन से भर दी जाती है। जैसे--

तिवारी, रामपूजन, *सूफीमत साधना और साहित्य*, वाराणसी, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, 1976, मुद्रित।

------ ---------, *जायसी*, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1973, मुद्रित।

------ ---------, *रहस्यवाद*, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1989, मुद्रित।

कॉर्पोरेट लेखन या संगठन की पुस्तक

ऐसी स्थिति में लेखन कार्य कई सदस्यों के योगदान से होता है। कृति के मुखपृष्ठ पर लेखकों का नाम अंकित नहीं होता। इसलिए सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची में प्रविष्टि भरते समय कॉर्पोरेट सदस्य या सदस्यों का नाम दर्ज किया जाता है। जैसे

अमेरिकी एलर्जी एसोसिएशन, *बच्चों में एलर्जी*, न्यूयॉर्क, रैण्डम प्रकाशन, 1998, मुद्रित।

बिना लेखक या सम्पादक की पुस्तक

ऐसी स्थिति में वर्णानुक्रम से कृतियों की सूची वैसे दर्ज की जाती है, जैसे लेखक का नाम दर्ज होता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोनों प्रविष्टियाँ वर्ण 'भ' और 'म' से शुरू होनेवाले नाम के लेखकों के बीच दर्ज होंगी--

माइक्रोसॉफ्ट पावर प्वाइण्ट, स्टेप बाई स्टेप, रेडमण्ड, माइक्रोसॉफ्ट लिमिटेड, 2001, मुद्रित।

मेगा इण्डियाना विश्वकोश, न्यूयॉर्क, समरसेट, 1993, मुद्रित।

अनूदित पुस्तक

अनूदित पुस्तक की दशा में प्रविष्टि तो अन्य पुस्तक की तरह ही होती है, सिर्फ अनुवादक का नाम जोड़ दिया जाता है।

ब्लॉख, ज्यूल, अनु. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लखनऊ, *भारतीय आर्य भाषा*, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, द्वितीय संस्करण, 1972, मुद्रित।

एक से अधिक खण्ड या भाग वाली पुस्तक

शर्मा, रामविलास, *भारत का प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी*, भाग-3, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1981, मुद्रित।

सम्पादित पुस्तक में से एक लेख

थापर, रोमिला, *आर्य संस्कृति*, श्याम सिंह शशि (सम्पा), *सामाजिक विज्ञान हिन्दी विश्वकोश*, दिल्ली, किताबार प्रकाशन, 2005, मुद्रित।

किसी पत्रिका, समाचार-पत्र आदि में प्रकाशित लेख

सिद्धार्थ, सुशील, साल 2010: *किताबों की दुनिया, नया ज्ञानोदय*, 51-58, 95 जनवरी 2010, मुद्रित।

इण्टरनेट पर उपलब्ध लेखक के नाम के साथ लेख

गुलजार, *साहिर और जादू, नया ज्ञानोदय*, जनवरी 2010, मुद्रित।

< http://www.ebizontech.com/~jnanpith/nayagyanodaya>

इण्टरनेट पर उपलब्ध बिना लेखक के नाम के साथ लेख

कथक, विकिपीडिया: एक मुक्त ज्ञानकोष, 11/02/11, 11 बजे पूर्वाह्न।

http://hi.wikipedia.org/wiki
%E00%A4%95%E0%A4%A5%E0%A4% 95

चित्र आदि के लिए सन्दर्भ चित्र के नीचे लिखा जाना चाहिए

(स्रोत: http://en.wikipedia.org/wiki/File:All_Gizah_Pyramids.jpg)

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची प्रस्तुत करने की ए.पी.ए. शैली

एक लेखक वाली पुस्तक

तिवारी, भोलानाथ, (1967), *भाषाविज्ञान*, किताब महल, इलाहाबाद, षष्ठ संस्करण।

एक सम्पादक

कथुरिया, सुन्दरलाल (सम्पा.), (1973), *आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

दो लेखकों वाली पुस्तक

सूद, रमा एवं मीरा सरीन, (1985), *हिन्दी-खासी द्विभाषी कोश*, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, प्रथम संस्करण।

दो-तीन से अधिक लेखकों वाली पुस्तक

सूद, रमा एवं अन्य, (1985), *हिन्दी-खासी द्विभाषी कोश*, आगरा, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, प्रथम संस्करण।

एक से अधिक खण्ड या भाग वाली पुस्तक

शर्मा, रामविलास, (1981), *भारत का प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी*, भाग-3, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

अनूदित पुस्तक

ब्लॉख, ज्यूल, अनु. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, (1972), *भारतीय आर्य भाषा*, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण।

सम्पादित पुस्तक में से एक लेख

थापर, रोमिला, (2005), *आर्य संस्कृति*, श्याम सिंह शशि (सम्पा), *सामाजिक विज्ञान हिन्दी विश्वकोश*, किताबार प्रकाशन, दिल्ली।

बिना लेखक या सम्पादक की पुस्तक

माइक्रोसॉफ्ट पावर प्वाइण्ट, वर्जन 2002, स्टेप बाई स्टेप, रेडमण्ड, माइक्रोसॉफ्ट लिमिटेड, 2001

किसी पत्रिका, समाचार-पत्र आदि में प्रकाशित लेख

सिद्धार्थ, सुशील, (95 जनवरी 2010), साल 2010: *किताबों की दुनिया, नया ज्ञानोदय*, 51-58

इण्टरनेट पर उपलब्ध लेखक के नाम के साथ लेख

गुलजार, (जनवरी 2010), *साहिर और जादू, नया ज्ञानोदय*।

< http://www.ebizontech.com/~jnanpith/nayagyanodaya>

इण्टरनेट पर उपलब्ध बिना लेखक के नाम के साथ लेख

कथक, विकिपीडिया: एक मुक्त ज्ञानकोष, 11/02/11

http://hi.wikipedia.org/wiki
%E00%A4%95%E0%A4%A5%E0%A4% 95

चित्र आदि के लिए सन्दर्भ चित्र के नीचे लिखा जाना चाहिए

(स्रोत: http://en.wikipedia.org/wiki/File:All_Gizah_Pyramids.jpg)

पाद-टिप्पणियाँ (Footnotes)

शोध प्रबन्ध के पृष्ठों पर प्रयुक्त उद्धरणों के स्रोतों का विवरण सम्बद्ध पृष्ठ के निचले अंश में दिया जाता है। कुछ अध्येता यह विवरण अध्याय के अन्त में भी देते हैं। इस विवरण को पाद टिप्पणी कहा जाता है। पाद टिप्पणी में उद्धरणों के स्रोत-ग्रन्थों की सूचनाओं के अतिरिक्त वैसी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी दी जा सकती हैं जिनका उल्लेख प्रबन्ध के कथन में सम्भव नहीं होता। ये सूचनाएँ किसी प्रंसग की विस्तृत व्याख्या भी हो सकती है। पाद-टिप्पणी का अभिप्राय शोध-ग्रन्थ को बेहतर तरीके से समझने में पाठक की सहायता करना है। जिस प्रकार उद्धरण शोधार्थी की प्रस्तावना अथवा

तथ्याख्यान को प्रमाणित करते हैं, उसी प्रकार पाद-टिप्पणियाँ उद्धरणों की प्रमाणिकता सिद्ध करती हैं।

ग्रन्थ में उल्लिखित उद्धरण की सूचना, निर्देश, पृष्ठ के निचले भाग में होने के कारण इसे पाद-टिप्पणी (फुटनोट) कहा जाता है।

पाद-टिप्पणी लिखने की कई विधियाँ होती हैं। सर्वश्रेष्ठ विधि में उद्धरण को अरबी अंकों (1, 2, 3...) द्वारा चिह्नित किया जाता है। हर अध्याय में नए सिरे से पाद-टिप्पणियों की संख्या देना बेहतर होता है, ताकि मुद्रण के समय आसानी हो। पूरे प्रबन्ध में एक संख्या-क्रम भी रखा जा सकता है, पर वह थोड़ा जटिल हो जाता है। सम्बद्ध पृष्ठ की पाद-टिप्पणी उसी पृष्ठ पर हो तो पाठकीय सुविधा बनती है। पाद-टिप्पणी का संख्यांक उद्धरण के अन्त में थोड़ा ऊपर अंकित किया जाता है। प्रत्येक पाद-टिप्पणी के बाद पूर्ण-विराम का प्रयोग किया जाना चाहिए। किसी एक ही ग्रन्थ से एक ही पृष्ठ पर दोबारा उद्धरण आने पर पाद-टिप्पणी में 'वही' का प्रयोग किया जाता है। उद्धरण की भाषा पर प्रबन्ध की भाषा के साथ संगत न्याय शोधार्थी के विवेक पर निर्भर करता है। उद्धरण यदि अंग्रेजी से अनूदित हो, तो पाद-टिप्पणी में उसका मूल अंग्रेजी-पाठ ग्रन्थ के नाम के साथ दिया जाना बेहतर होता है।

पाद-टिप्पणी के उदाहरण

1. शर्मा, रामविलास, *भारत का प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, भाग-3*, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1981, पृ. 86
2. वही, पृ. 77
3. यह उत्तर बिहार की नदी है।

उद्धरण

अपने अभिमत को पुष्ट और प्रामाणिक करने के लिए शोधार्थी द्वारा किसी विशिष्ट विद्वान या विशेषज्ञ की उक्ति का अविकल अधिग्रहण उद्धरण कहलाता है। उद्धरण डबल इन्वर्टेड कॉमा में लिखा जाता है। अत्यधिक लम्बा होने की स्थिति में बीच के कुछ अंश छोड़े जा सकते हैं, छोड़े गए अंश की सूचना शब्दलोप के चिह्न (...) से दी जाती है। अन्य भाषाओं के उद्धरणों का अनुवाद देकर पाद-टिप्पणी में सम्पूर्ण सूचना दी जा सकती है।

तुलनात्मक शोध

तुलनात्मक शोध में अध्ययन के विषयों की तुलना से नए तथ्यों का पता लगाया जाता है। तुलना करने की मानवीय प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है, जबकि तुलनात्मकता अधारित शोध अपेक्षाकृत कम पुराना है; पर बहुत नया भी नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसमें त्वरा आई। बाद में भूमण्डलीकरण ने इसे और उन्नत किया। यह शोध साहित्य अथवा भाषा में किन्ही दो रचनाओं या पाठों, लेखकों, काव्यान्दोलनों या किन्हीं अन्य साहित्यिक पक्षों को लेकर एक ही भाषा अथवा अन्य भाषा अथवा दो भाषाओं के स्तर पर किया जा सकता है। समाज-विज्ञान में तुलनात्मक शोध का भरपूर इस्तेमाल होता है। दुर्खिम, हॉबहाउस, व्हीलर, आदि ने सामाजिक घटनाओं और परम्पराओं के अध्ययन में इसका खूब उपयोग किया है। इसका उद्देश्य दो भिन्न आयामों के बीच साम्य-वैषम्य का पता लगाना होता है। वैषम्य बताने के लिए साम्य की खोज और साम्य बताने के लिए वैषम्य की खोज जरूरी है। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में यूरोप में तुलनात्मक शोध का व्यवस्थित रूप सामने आया था।

सन् 1928 में प्रकाशित पुस्तक *'कमिंग ऑफ एज इन समोआ'* में मार्ग्रेट मीड ने सांस्कृतिक मानवविज्ञान में तुलनात्मक शोध की शुरुआत की। इस शोध में मीड ने सामोआ गाँव के पोलिनेशियाई समाज के रहन-सहन की तुलना तत्कालीन अमेरिकी समाज से की। उन्होंने ने पाया कि सामोआ समाज के लोगों में एकपत्नीत्व और ईष्या के लिए सम्मान नहीं था। बचपन से जवान होने तक का रास्ता सामोआ के लोगों में बहुत सरल और आसान था, जबकि अमेरिकी समाज में यह तनाव, अवसाद, और दिग्भ्रम से भरा हुआ था। आधुनिक समाज, जनजीवन एवं सभ्यता के क्षेत्र में नवविकसित तुलनात्मक शोध इस अर्थ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सम्भावनापूर्ण है। इस तरह की तुलनात्मकता के जरिए नवोन्मेषशाली ज्ञान-परम्परा से परिचित होकर आन्तरिक भव्यता और वैश्विक ज्ञान-सम्पदा से अवगत हो सकते हैं।

तुलनात्मक शोध को मुख्यतः हम चार कोटियों में बाँटकर देख सकते हैं--

- एक ही साहित्य के अन्तर्गत तुलनात्मक शोध
- एक साहित्य का अन्य साहित्यों पर प्रभाव
- दो या दो से अधिक साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन

- समान युग की साहित्यिक धारा का अध्ययन

उदाहरण के लिए 'निराला और पन्त के काव्य की तुलना' विषयक शोध को एक ही साहित्य के अन्तर्गत तुलनात्मक शोध कहेंगे। 'हिन्दी कथा-साहित्य और विश्व कथा-साहित्य' विषयक शोध को एक साहित्य का अन्य साहित्यों पर प्रभावपरक शोध कहेंगे। 'हिन्दी और तमिल में रेडियो नाटक' विषयक शोध को दो या दो से अधिक साहित्यों का तुलनात्मक शोध कहेंगे। 'हिन्दी और बांग्ला के वैष्णवभक्ति साहित्य का अध्ययन' विषयक शोध को समान युग की साहित्यिक धारा का अध्ययनपरक शोध कहेंगे।

भाषा-साहित्य में संचालित तुलनात्मक शोध के लिए तुलनात्मकता के कुछ प्रमुख आधार होते हैं, जिसके सहारे शोधार्थी तुलनात्मकता की विधियाँ निर्धारित करते हैं। सामान्य तौर पर इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों, साहित्य के युगों की विशेषताओं, साहित्यिक कृतियों, साहित्यकारों अथवा साहित्यकारों की चिन्तन-पद्धतियों की तुलना की जाती है।

तुलनात्मक शोध की प्रविधि निर्धारित करते समय शोधार्थी अपने ज्ञान, कौशल, अनुभव की विलक्षणता; पर्यवेक्षक के दिशा-निर्देश, और परिस्थिति विशेष की माँग के अनुसार अपनी शोध-क्रियाओं की शृंखला निर्धारित करता है; जिसमें वह तुलनीय ग्रन्थों, प्रसंगों, धारणाओं के सभी तत्त्वों पर अलग-अलग तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने की पद्धति तय करता है। ग्रन्थ की स्थिति में विषय-वस्तु, विधा-प्रसंग, घटना-क्रम, भाषा शैली, शिल्प-संरचना, उद्देश्य, प्रयोजन, पात्र, दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान... सारे तत्त्वों की अलग-अलग कसौटी बनाकर साम्य-वैषम्य का अध्ययन करता है। इस पूरे अध्ययन की शृंखला में जिन युक्तियों एवं तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है, उनके साम्य-वैषम्य, भेद-अभेद, मिलन-पार्थक्य का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाता है।

इस सूक्ष्म विश्लेषण के बाद शोधार्थी अपनी क्षमता, उद्देश्य और धारणा के अनुसार उसका अध्ययन करता है। इस अध्ययन के मुख्यतः चार सोपान होते हैं-- तुलनात्मक तालिका निर्माण, वैषम्यों का आकलन, वैषम्यों के कारणों की खोज एवं सम्पूर्ण व्याख्या।

इस अनवरत शृंखला से गुजरते हुए शोधार्थी अपनी-अपनी क्षमता, उद्देश्य और धारणा के अनुसार कई पद्धतियों का उपयोग करता है। उपयोग में आने वाली प्रमुख पद्धतियाँ हैं--विकासात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, विवरणात्मक पद्धति, संरचनात्मक पद्धति आदि।

तुलनात्मक शोध की कुछ खास विशेषताएँ होती हैं--अव्वल तो वह इसमें दो या दो से अधिक आयाम होते हैं। इसकी सामग्री दो या दो से अधिक स्रोतों से प्राप्त करनी होती है। अन्ततः यह सैद्धान्तिक शोध में परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि दो वस्तुओं की तुलना का आधार सैद्धान्तिक ही तो होगा।

तुलनात्मक शोध के सहारे ही हमें किसी राष्ट्र अथवा विश्व के साहित्यिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष या फिर मानवता की भावना को बेहतर समझ पाते हैं।

अन्तरानुशासनात्मक शोध

एकाधिक अनुशासनों या ज्ञान की शाखाओं से प्राप्त सूचनाओं, तकनीक, पद्धतियों, उपकरणों, विचारधाराओं, अवधारणाओं और सिद्धान्तों की सहायता से उन ज्ञान क्षेत्रों का विस्तार या समस्याओं का हल ढूँढने के उद्यम के साथ किया जानेवाला शोध अन्तरानुशासनात्मक शोध कहलाता है।

कार्ल पॉपर कहते हैं कि हम किसी विषय-वस्तु के नहीं, समस्याओं के अध्येता हैं, समस्याएँ किसी विषय या अनुशासन के दायरे में नहीं बँध सकती।

अन्तरानुशासनात्मक शोध का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन यूनान में सुकरात से पहले के दार्शनिक अनाक्सिमन्दर (Anaximander, ई.पू. 611 से 546) ने अपने भूगर्भशास्त्र, जीवाश्मिकी और जीवविज्ञान के ज्ञान का एक साथ उपयोग करते हुए पता लगाया था कि जीवों का विकास सरल रूपों से जटिल रूपों की ओर हुआ था। वैदिक काल के भारत में ज्ञान को अखण्ड या अविभाजित माना जाता था। भारत में मौर्यवंश के शासन काल के महान दार्शनिक कौटिल्य (ई.पू. 350 से 283) ने अर्थशास्त्र में अन्तरानुशासनात्मक शोध का प्रयोग किया है। गैलिलियो से पहले दर्शन के दो रूप थे--मीमांसा दर्शन (Speculative Philosophy) एवं व्यावहारिक दर्शन (Practical Philosophy) अर्थात आज का विज्ञान। सोलहवीं शताब्दी के जर्मन वैज्ञानिक जॉन केप्लर (Johanne Kepler सन् 1571-

1630) ने यह पता लगाने के लिए कि मंगल ग्रह सूर्य का चक्कर कैसे लगाता है, गणित और खगोलशास्त्र का सुन्दर उपयोग किया था। आधुनिक दर्शन के पिता कहे जाने वाले रेने देकार्त (Rene Descartes, सन् 1596 से 1650) ने कहा कि 'दर्शन एक पेड़ की तरह है, जिसकी जड़ें तत्त्वमीमांसा (Metaphysics), तना भौतिक विज्ञान (Physics) और उसकी सभी शाखाएँ जो तने से ऊपर की ओर निकलती हैं, वे अन्य विज्ञान के अनुशासन हैं (The Principles of Philosophy 1644)। चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) को प्राकृतिक चयन के सिद्धान्त (Theory of natural Selection) का निर्माण करने की प्रेरणा माल्थस की पुस्तक 'जनसंख्या के सिद्धान्त पर एक निबन्ध' (An essay on the principle of population) को पढ़ने के बाद मिली थी।

अन्तरानुशासनात्मक शोध आधुनिक युग की आवश्यकता है। ज्ञान-प्राप्ति के आज अनेक रास्ते हैं। अलग-अलग अनुशासन होने पर भी अधिकांश ज्ञान-शाखाओं की पारस्परिक निर्भरता स्पष्ट दिखती है। विश्व की अनन्त समस्याओं के निदान हेतु आज अन्तरानुशासनात्मक शोध एक जरूरी साधन हो गया है। फ्रांस के प्रसिद्ध चिन्तक रोलाँ बार्थ (Roland Barthes सन् 1915-1980) का कहना है कि अन्तरानुशासनात्मक शोध अनुशासनों को नया रूप और नए प्रकार के ज्ञान को जन्म दे रहा है (सन् 1977)।

अन्तरानुशासनात्मक शोध के उदय के कारण

विश्वयुद्धों की शृंखला के बाद शान्ति एवं सुव्यवस्था की ओर अग्रसर राष्ट्र-समूह की नई चेतन मनःस्थिति बहुत कुछ देख रही थी। युद्ध-शृंखला में शामिल एवं अलग-थलग रहे राष्ट्रों ने युद्धोत्तर परिणतियों को गम्भीरता से देखा था। स्पष्ट हो चुका था कि युद्ध न केवल जन-धन, सुख-शान्ति की अपूरणीय क्षति देने वाली घटना है; बल्कि यह लम्बे समय तक के सम्भावित विकास पर ताला लगा देता है। युद्धोन्माद की जड़ अहंकार है, प्रभुता का अहंकार। यह अहंकार हर परिस्थिति में दूसरों को तुच्छ, हीन, और खुद को महत् समझने की राक्षसी वृत्ति से दोस्ती कराता है। फलस्वरूप दूसरों की स्वायतता लोग पर अपना वर्चस्व चाहने लगते हैं, दूसरों के जैविक और मानसिक अधिकार से बेफिक्र अहंकारी उन्हें नेस्तनाबूद कर देना चाहते हैं। युद्धोत्तर परिणतियों से उत्पन्न बदहाली ने लोगों को मानवीय बनाया। वे

उन्माद की पृष्ठभूमि समाप्त कर शान्तिपूर्ण जीवन-व्यवस्था, प्रेम-सौहार्द एवं संवाद की ओर अग्रसर हुए। परिस्थितिजन्य चेतना के कारण व्यवस्थापकों में जनकल्याण एवं सामाजिक सुव्यवस्था कायम करने, अन्न-वस्त्र-आवास की सहज व्यवस्था बनाने, जनसंख्या सन्तुलन की तरकीब निकालने, आपराधिक वर्चस्व पर काबू पाने की प्रेरणा जगी। मनुष्य पर विजय पाने के बजाय मानव-जीवन में उपस्थित विडम्बनाओं पर विजय पाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। वर्चस्व विमुख धारणा की इस प्रेरणा से शैक्षिक क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन आया। साहित्य और अनुवाद के क्षेत्र में इसका प्रत्यक्ष प्रभाव भरपूर दिखने लगा। साहित्य एवं अनुवाद की परम्परा की परताल में लोग इतिहास के साक्ष्य ढूँढने लगे। मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक स्वरूप, भाषा के आविष्कार स्थिति, कला एवं साहित्य के उद्भव-विकास की विधियाँ, मानव-जीवन में कला-साहित्य के प्रयोजन, मुद्रण के आविष्कार आदि के सूत्र की तलाश में इतिहास-भूगोल-समाजशास्त्र की गहरी छान-बीन की आवश्यकता होने लगी। अनुवाद के कारण प्रान्तीय-राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संवाद आसान होने लगे। भौगोलिक एवं भाषिक भिन्नता के बावजूद अनुवाद ने संवाद के रास्ते सहज कर दिए। साहित्य के अनुवाद के सहारे सांस्कृतिक संचरण सहज हो गया। अनुवाद के कारण साहित्यिक, ज्ञानात्मक एवं वैचारिक पाठ की आवाजाही प्रचुरता से हुई। भाषिक-भौगोलिक हदबन्दी टूटी तो संवाद की उदारता बढ़ी। भाषा-साहित्य एवं संस्कृति में भी इस पारस्परिकता से सम्पन्नता आई। फिर तो अन्तरानुशासनात्मक शोध समय एवं परिस्थिति की अनिवार्य नियति बन गई। क्योंकि एक अनुशासन के सीमा-क्षेत्र की विकल व्यवस्था के कारण प्रस्तावित प्रसंग में उपस्थित समस्याओं एवं सवालों का हल निकलना मुश्किल हो गया था। अन्तर्भाषिक और अन्तरानुशासनिक विषय-बोध एवं स्थानीय जीवन-मूल्य, समाज-मूल्य की जानकारी के बिना ऐसे विराट फलक से परिचित होना असम्भव था। समाज और शिक्षा-तन्त्र भी इतना उदार हुआ कि तुरत-तुरत आए इस परिवर्तन को सहर्ष स्वीकृति मिल गई।

इसी क्रम में ज्ञान की शाखाओं में निरन्तर विस्तार हुआ। ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीक के बढ़ते फलक के कारण लोग चेतना-सम्पन्न हुए। लोगों में सूचना-सम्पन्न एवं अद्यतन होने की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी। विकास की इस आँधी में जीवन, जगत और मानव-व्यवहार थोड़ा-थोड़ा जटिल हुआ। तथ्य है कि नागरिक जीवन का सीधा

सम्बन्ध ज्ञान की हर शाखा, हर विषय-प्रसंग से होता है और हर विषय किसी न किसी सूत्र से आपस में जुड़ा होता है। उदाहरण के लिए किसी उपन्यास पर शोध की बात करें--तो स्पष्टतः उस उपन्यास का नायक महत्त्वपूर्ण हो जाएगा। अब उस नायक के किसी वांछित-अवांछित आचरण का प्रसंग आए, तो स्पष्टतः उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण महत्त्वपूर्ण होगा, जिसका स्पष्ट जुड़ाव मनोविज्ञान से होगा। सम्भव है कि वैसे आचरण का सम्बन्ध उसके अतीत की किसी घटना, या अतीत के किसी विदेश-परदेश यात्रा से हो; ऐसी स्थिति में इतिहास, भूगोल, तत्कालीन वातावरण, राजनीतिक-सामाजिक घटना-प्रसंग...सारे के सारे घटक इस अध्ययन के दायरे में आ जाएँगे। लिहाजा निरन्तर जटिल होती जा रही जीवन-व्यवस्था, एवं सामाजिक समस्याओं की गुत्थियाँ सुलझाने की विवशता आज के शोध अनुशासन के समक्ष है; और शोध-कार्य के दौरान ये सारी परिस्थितियाँ दरपेश होती हैं।

विज्ञान एवं तकनीकी विकास से उपलब्ध संसाधनों के कारण सभ्यता-संचालन के घटकों की पारस्परिकता सघन हो गई। शोध के उपस्कर बढ़ गए। तथ्य-संग्रह के नए-नए तरीके एवं सुविधाएँ सामने आए। यातायात आसान हुआ। तकनीकी संयन्त्रों के सहयोग से खोजी हुई, जुटाई हुई सामग्रियों का अनुरक्षण, अनुकरण सम्भव हुआ। ध्वन्यांकन, फोटोग्राफी, विडियोग्राफी, स्कैनिंग, छायांकन द्वारा सामग्रियों का संग्रहण-अभिलेखन आसान हुआ। इलेक्ट्रोनिक माध्यमों के सहयोग से भी सूचना-संग्रह के कई स्रोत सहज-सम्भाव्य हुए। न केवल कई अनुशासनों, और कई विषयों का, बल्कि कला-माध्यमों की कई विधाओं का पारस्परिक रिश्ता सघन हो गया। ज्ञान के क्षेत्र में विधा, विषय एवं अनुशासनों की सीमाएँ टूट गई हैं। हर जाग्रत एवं चिन्तनशील कलाकार, चिन्तक, व्यवस्थापक (इस तीन पदधारियों में सारे समा जाते हैं--
किसान, मजदूर, जनसामान्य, लेखक, शिक्षक, शिल्पी, चित्रकार, पत्रकार, पुलिस, अ फ्सर, नेता, व्यापारी, धर्मोपदेशक) को अपनी रचना, अपने उद्यम के लिए देश, काल, पात्र की राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय ताजा-तरीन गतिविधियों के प्रति सावधान रहना पड़ता है; बल्कि उनके कृति-कर्मों में इन सभी पर्यवस्थितियों का समावेशन होता है। इसलिए रंगकर्म के शोधार्थी को, या चित्रकला-मूर्तिकला के शोधार्थी को इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है; किसी

इतिहास के शोधार्थी को समकालीन साहित्य, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है।

भाषा और साहित्य में अन्तरानुशासनात्मक शोध

वैसे तो हर विषय, हर अनुशासन के सम्पर्क से मनुष्य जीवन-व्यवहार की सूक्ष्मताओं को समझने की नई पद्धति ग्रहण करता है, पर भाषा और साहित्य चूँकि ज्ञान की अखण्डता का वाहक होता है, इसलिए इसमें अन्तरानुशासनात्मक शोध की आवश्यकता सर्वाधिक होने लगी है। इस पद्धति के शोध में समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, शैली वैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय विधानों के सूक्ष्मतर विश्लेषण से साहित्य का अध्ययन किया जाता है। अनुवाद एवं अनुवाद अध्ययन की स्थिति में अनुवाद की आवश्यकता, परम्परा, इतिहास, पद्धति, राजनीतिक-प्रशासनिक-सामाजिक परिस्थिति में अनुवाद का प्रयोजन और प्रकार्य, अनुवादक की निष्ठा एवं प्रतिबद्धता, समकालीन समाज व्यवस्था में अनुवाद के प्रयोजन आदि पर विचार करने हेतु इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाज...सबका ध्यान रखा जाना आवश्यक होगा।

पाठ-शोध या पाठानुसन्धान

किसी रचना के विभिन्न पाठों की प्रतिलिपियों के अध्ययन, अनुशीलन एवं निश्चित सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा उस रचना के मूल-पाठ तक पहुँचने की प्रक्रिया को पाठ-शोध या पाठानुसन्धान कहते हैं। इसे पाठ-सम्पादन या पाठालोचन भी कहा जाता है। पाठ-शोध या पाठानुसन्धान वह बौद्धिक और शास्त्रीय विधि है, जिससे पाठ के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए मूल-पाठ का निर्धारण किया जाता है। कुछ लोग इसे साहित्यिक आलोचना का अंग भी मानते हैं। उदाहरण के लिए सन् 1972 में यमन के साना शहर की बड़ी मस्जिद में मिली पाण्डुलिपि को कुरान-शरीफ की सबसे पुरानी प्रति कहा जा रहा है। इस पर जर्मनी के गर्ड पुइन (Gerd Puin) द्वारा पाठ-शोध किया गया। इसी प्रकार भारतीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में *कीर्तिलता* पर विचार करते हुए हिन्दी साहित्य के सभी विद्वान इसे हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति एवं महाकवि विद्यापति की प्रारम्भिक रचना मानते हैं। मैथिली के श्रेष्ठ आलोचक रमानाथ झा इसे जीवन के अन्तिम भाग में विद्यापति द्वारा बेमन से लिखी गई रचना मानते हैं। इस पर पाठानुन्धान हो रहा है।

पाठ का अभिप्राय वह लेख होता है जो किसी भाषा में लिपिबद्ध हो, जिसका अर्थ ज्ञात हो या उसमें ज्ञात हो सकने की अवश्यम्भाविता हो; साथ ही पाठ-शोध अथवा पाठानुसन्धान करने वाले उद्यमशील शोधार्थी को उसकी जानकारी हो।

पाठ-शोध का उद्देश्य रचना अथवा रचना के मूल लेखक का नाम भर जान लेना नहीं होता। पाठ-शोध अथवा पाठानुसन्धान की पूरी प्रक्रिया के दौरान आलोच्य पाठ के मूल स्वरूप, उसके रचनाकार, रचनाकार के रचनात्मक उद्देश्य, सामाजिक एवं प्रशासनिक स्तर पर रचना की मान्यता एवं उसका प्रभाव, अग्रिम रचना-प्रक्रिया को उस रचना से प्राप्त प्रेरणा, एक पाठ के रूप में उस रचना की समकालीन और शाश्वत उपादेयता... आदि, सभी प्रसंगों की जानकारी हासिल करना होता है।

प्राचीन-ग्रन्थों की स्थिति में पाठ-शोध की विशेष आवश्यकता होती है। मुद्रण की असुविधा के कारण प्राचीन काल की रचनाएँ मौखिक या हस्तलिखित होती थीं। फलस्वरूप इन ग्रन्थों के कई संस्करण होते हैं और पाठान्तर के कारण पढ़ने वालों के लिए दुविधा उत्पन्न हो जाती है। पाठ की इस बहुतायत में से एक मूल पाठ को खोजना महत्त्वपूर्ण, लेकिन दुष्कर हो जाता है। पाठ-भेद के कारण महाकवि विद्यापति, चन्दवरदाई, मलिक मुहम्मद जायसी आदि द्वारा रचित कृतियों के अवगाहन की समस्या देखकर आसानी से समझा जा सकता है कि प्राचीन-ग्रन्थों का पाठानुसन्धान एक अनिवार्य कार्य है।

पाठ-शोध या पाठानुसन्धान के लिए सामग्री-संकलन के स्रोतों को दो कोटियों में विभक्त किया जाता है--मुख्य सामग्री और सहायक सामग्री। मूल लेखक के हस्तलिखित पाठ, अर्थात् मूल पाण्डुलिपि को मुख्य सामग्री कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रथम प्रतिलिपि अथवा प्रतिलिपि की अन्य प्रतियाँ आती हैं। और, मुख्य सामग्री की मौलिकता, प्रमाणिकता के परीक्षण हेतु सहायक सामग्री के रूप में भोजपत्र, ताड़पत्र, शिला-लेख, कागज, सिक्के आदि के प्रयोग होते हैं।

पाठ-शोध या पाठानुसन्धान की आवश्यकता वस्तुतः पाठ की विकृतियों के कारण उत्पन्न होती है। पाठ में ये विकृतियाँ कई कारणों से आती हैं। कुछ तो सचेष्ट विकृति होती है। कुछ विकृतियाँ पाठकों, वाचकों, अनुलेखकों में लिपि, भाषा, शैली, संरचना, छन्द अथवा प्रयोगसम्मत अज्ञता, अनभिज्ञता; प्रतिलिपि बनाते समय की असावधानी आदि के कारण आती

है। लेखन-सामग्री की गुणवत्ता के कारण कई बार लिपि मिट जाती है, या धूमिल हो जाती है; पाठक, वाचक या अनुलेखक उसे सही-सही पढ़ नहीं पाते हैं; इन समस्त असुविधाओं से ऊबकर दुर्बोध अथवा अस्पष्ट अक्षरों, शब्दों, पदों का विकल्प अपने विवेक से दे देते हैं। फलस्वरूप पाठ-प्रक्षेप अथवा पाठान्तर सहज सम्भाव्य हो जाता है, जिससे निजात पाने के लिए, या श्रमपूर्वक पाठ के यथासम्भव मूल तक जाने की चेष्टा पाठ-शोध द्वारा किया जाता है।

इस दिशा में आगे बढ़ते हुए शोधार्थी देश-काल-पात्र-परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रक्रिया अपनाते हैं। सामग्री-संकलन के साथ-साथ इस क्रिया में मूल रचनाकार एवं तत्कालीन राजवंश का वंश-वृक्ष भी बनाया जाता है। इस दिशा में वंश-वृक्ष निर्माण की विधि जर्मन भाषावैज्ञानिक कार्ल लॉचमान के उद्यम से प्रसिद्ध हुई। शोध के इस भाग में साम्य-वैषम्य की विश्लेषणपरक पद्धति से पाठ-निर्धारण और प्रतिलिपियों के आपसी सम्बन्ध का निर्धारण किया जाता है। पर्याप्त श्रम से, विशेषज्ञता सम्मत अभिमत से भाषा एवं वर्तनी सम्बन्धी सुनिश्चिति बनाई जाती है, और फिर पाठ में सुधार किया जाता है। इस तरह तर्कसम्मत सर्वमान्य अभिमत के आधार पर पाठ के मूल रूप का निर्धारण और विवेचन किया जाता है।

शोधार्थी की विशेषताएँ

किसी सुव्यवस्थित शोध के लिए शोधार्थी में कुछ खास विशिष्टताओं की अपेक्षा की जाती है। इन वैशिष्ट्यों के बिना अपेक्षित परिणाम की सम्भावनाएँ जाती रहती हैं। किसी शोधकर्मी के वैयक्तिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, अध्यवसायिक विशिष्टता; विलक्षण वैज्ञानिक दृष्टि, एवं देश-काल-पात्र के अनुसार अपने व्यवहारादि में समुचित सन्तुलन लाए बिना लक्षित उद्देश्य तक पहुँचना संदिग्ध रहता है--

- मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व, स्वस्थ शरीर और मन, अध्यवसाय, साधनशीलता एवं सहनशीलता ऐसे शारीरिक व वैयक्तिक गुण हैं, जिसके अभाव में शोधार्थी को कदम-कदम पर परेशानी हो सकती है।
- रचनात्मक कल्पनाशक्ति, विलक्षण तर्कशक्ति, शीघ्र निर्णय लेने की योग्यता, विचारों की स्पष्टता, बौद्धिक ईमानदारी जैसे बौद्धिक वैशिष्ट्य के बूते ही कोई शोधार्थी अपने शोध को लक्षित परिणति तक पहुँचा पाता है। ज्ञान, प्रशिक्षण

तथा अनुभव की परिपक्वता शोधार्थी को देश-काल-पात्र के बोध से परिपूर्ण करता है।

- व्यवहारकुशलता, आत्मनियन्त्रण, चर्चा-प्रसंगादि में सतर्कता एवं वाक्चातुर्य, भावावेग में सन्तुलन आदि व्यवहारपरक गुणों के कारण शोधार्थी अपने शोध हेतु तथ्य-संग्रह के मार्ग सहज कर लेते हैं। कोई उनके व्यवहार से दुखी नहीं होता। इस तरह का आचरण उन्हें आत्मविवेक की श्रेष्ठता भी देता है। शोध-केन्द्र अथवा अध्ययन-केन्द्र पर संचालित शोधार्थी की दिनचर्या उसकी व्यवहारकुशलता से ही रेखांकित होती है। एक संस्था के रूप में किसी अध्ययन-केन्द्र का इस्तेमाल करते हुए कोई शोधार्थी अध्ययन की जैसी पद्धति अपनाता है; ग्रन्थों, सन्दर्भों, आँकड़ों, उपकरणों, संयन्त्रों, प्रविधियों का जिस तरह उपयोग करता है; वह सम्बद्ध संस्था-संचालक की दृष्टि में नीतिसम्मत है या नहीं; यह उसकी व्यवहारकुलता से निर्देशित होगा। इसके अलावा एक सफल शोध के लिए साधन-सम्पन्नता और संगठनात्मक क्षमता भी आवश्यक है।
- निर्धारित विषय में रुचि, शोधविषयक बोध, लक्ष्यपरक एकाग्रता जैसे गुण शोधार्थ के अध्यवसायविषयक गुण हैं। इस गुण की कमतरी पूरे शोध के सारे आयासों पर पानी फेर देगी। विषय में रुचि और पहले से उसकी गम्भीरता की समझ न हो, तो निश्चय ही उस शोध की लगनशीलता कलंकित होगी, फलस्वरूप शोध खानापूर्ति तक सीमित हो जाएगी।
- इसके साथ-साथ शोधार्थी को धुन का पक्का होना चाहिए। अथक परिश्रम, संकोचविहीन उद्यमशीलता, एकनिष्ठ लगन से शोध की निरन्तरता में तल्लीन रहना, अनवरत पर्यवेक्षक से संगति बनाए रखना, निर्बाध निर्देश प्राप्त करते रहना...ये सब कुछ ऐसे वैशिष्ट्य हैं जो हर शोध को सामान्य त्रुटियों से सहज ही मुक्त कर देते हैं।

शोध-पर्यवेक्षक की विशेषताएँ

सारे संसाधनों और शोधार्थी के नैष्ठिक समर्पण के बावजूद किसी शोध की सार्थकता सहज ही खण्डित हो सकती है, यदि शोध-पर्यवेक्षक का उदार और विवेकसम्मत समर्थन न मिले। इसलिए शोध के दौरान शोध-पर्यवेक्षक में भी कुछ विशेषताएँ

होती हैं। अपेक्षा की जाती है कि एक श्रेष्ठ शोध-पर्यवेक्षक में निम्नलिखित क्षमता हो और वे अपने दायित्वों का नैष्ठिक निर्वहण करें--

- वे शोधार्थी को अकादमिक स्वाधीनता देकर उसकी मुक्त सोच का समर्थन करें।
- वे शोधार्थी की शैक्षिक योग्यताओं की पहचान ठीक-ठीक करें।
- शोध कार्य और शोध निर्देशन का उन्हें पर्याप्त अनुभव हो।
- शोधार्थी में शोध-वृत्ति विकसित करने की उनमें क्षमता हो।
- वे कर्मठ, धैर्यशील, सहिष्णु, तटस्थ, विचारशील और स्पष्ट मत के हों।
- उनकी प्रवृत्ति प्रेरक और उत्साहवर्द्धक हो।
- शोध विषयक क्रमिक प्रगति से उनका परिचय हो।
- शोध कार्य के सांस्थानिक नियमों से वे परिचित हों।

बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में आकर दुनिया भर में, खासकर यूरोप और अमेरिका में शोधार्थी और शोध-पर्यवेक्षक के बीच लेजे फेयर की स्थिति आ गई थी। लेजे फेयर अठारहवीं सदी के फ्रांस के उदारवादियों द्वारा समर्थित एक चर्चित सिद्धान्त है जो मूलतः वहाँ की अर्थ-व्यवस्था से सम्बद्ध है। मरियम वेबस्टर शब्दकोष के अनुसार लेजे फेयर नेतृत्व (laissez-faire leadership) वस्तुतः रुचि एवं क्रिया की वैयक्तिक स्वाधीनता के साथ मतदान द्वारा निर्धारित एक व्यवस्था या प्रथा है, जो स्वायतता की हिमायत करती है। उनकी राय में स्वशासन शैली व्यक्तियों, समूहों या दलों में निर्णय लेने की क्षमता विकसित करती है। वैसे इस पृथक नेतृत्व शैली के आलोचकों की राय थी कि अधीनस्थों को निर्णय लेने की जिम्मेदारी सौंपना जोखिम भरा काम होगा। समूहों और दलों को दूरगामी रणनीतिक निर्णय लेने की आजादी भले न हो पर लेजे फेयर नेतृत्व, जिसे हस्तक्षेपमुक्त नेतृत्व भी कह सकते हैं, व्यक्तियों या दलों को अपने काम पूरा करने की विधि तय करने की छूट देता है। कार्य करने की स्वाधीनता की धारणा से सम्बद्ध इस मुहावरे का अभिप्राय फ्रांस की आर्थिक गतिविधियों में सरकार का न्यूनतम हस्तक्षेप था। आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद के समर्थक और उत्पादन व्यवस्था में इस नारे से क्रान्ति आ गई थी। कहते हैं कि यह नारा सन् 1680 में अपने ही देश के व्यापारियों

के साथ फ्रांसिसी वित्त मन्त्री जीन-बेपटिस्ट कोलबार्ट की बैठक का नतीजा था, जिसमें उत्पादन-व्यवस्था में निरन्तर बढ़ती स्पर्धा से जूझ रहे व्यापारी सरकारी हस्तक्षेप के बाध्यकारी नियमों से परेशान होकर एम. ली. जेण्ड्री के नेतृत्व में अपनी समस्याएँ लेकर पहुँचे थे। यह जुमला व्यापारियों ने तभी कहा था, इसका आशय है-- 'हमें हमारे हाल पर छोड़ दें, अपना काम करने दें।' बाद में इस सिद्धान्त को ब्रितानी अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने लोकप्रिय बनाया।

सामान्य स्थिति में भारतीय भाषाओं में क्रियाशील शोधार्थियों के प्रसंग में ऐसी स्थिति की कामना सोचकर भी नहीं की जा सकती। कुछ विलक्षण कौशल और लगन वाले शोधार्थियों की स्थिति में यह ठीक भी हो जा सकती थी, फिर भी लड़कपन की अनुभवहीनता उन्हें दिग्भ्रान्त न कर दे, इसलिए शोध-पर्यवेक्षक का यह दायित्व है कि वह शोधार्थी में शोध के अनिवार्य दृष्टिकोण विकसित करें, शोध के विषय के चयन के पहले उसकी सार्थकता पर गम्भीरता से गौर करें और शोधार्थी को उसके लाभ-हानि के बारे में सचेत करते रहें। शोध-पर्यवेक्षक इस पर भी सतर्क नजर रखें कि शोधार्थी में विषय को लेकर अपेक्षित रुचि, निरन्तरता और सक्रियता है या नहीं, क्योंकि उसके बिना वह विषय के सम्यक अनुशीलन में सक्षम नहीं होगा। शोध-कार्य को पूरा करवाने में शोध-पर्यवेक्षक की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

शोध निबन्ध

हर शोधार्थी को बेहतर शोध-निबन्ध लिखने के कौशल से अवगत रहना चाहिए। गहन शोध और प्रचुर तथ्य-संग्रह मात्र से बेहतर शोध-निबन्ध लिखे जाने की सुनिश्चिति नहीं हो जाती। कौशल भी बड़े काम की होती है। हर शोधार्थी को सर्वप्रथम अपने शोध-निबन्ध की रूपरेखा तैयार करनी चहिए। शोध-निबन्ध लेखन हेतु रूपरेखा एक ऐसा उपक्रम है जो शोधार्थी को ताँगे में जुते घोड़े की तरह एक किस्म से बाँध देता है; व्याख्या देते हुए उसे इधर-उधर भटकने-बहकने की छूट नहीं देता। यह रूपरेखा किसी भवन-निर्माण के वास्तुशिल्प (आर्किटेक्चर) की तरह होता है, और इसे तैयार करते समय शोधार्थी एक वास्तुशिल्पी (आर्किटेक्ट) की भूमिका में होता है। भवन-निर्माण की संरचना तैयार करते हुए जिस तरह कोई वास्तु-शिल्पी भवन के भौतिक, स्थानिक, धार्मिक, शास्त्रीय, संसाधनपरक, भोगपरक सम्भावनाओं के लिए चिन्तित रहता है; भवन के

मजबूत, हवादार, प्रकाशमय, भूकम्पनिरोधी, आँधी-तूफान-बारिश झेलने की क्षमता से युक्त होने की सारी योजनाएँ पहले से तय कर लेता है; शोधार्थी को भी अपने शोध-निबन्ध की स्तरीयता के लिए एक परिपूर्ण रूपरेखा तैयार करनी होती है। तैयार रूपरेखा के अनुसरण में लिखा गया निबन्ध सर्वथा रुचिपूर्ण, फलदायी और प्रभावी होता है। रूपरेखा तैयार करते समय शोधार्थी को निबन्ध के मुख्य पाँच बिन्दुओं पर विशेष ध्यान देना होता है--शीर्षक, प्रस्तावना, मुख्य भाग, निष्कर्ष, सन्दर्भ सूची। शोधार्थी चाहे तो सम्बद्ध स्रोत, संकलित तथ्य, तथ्यान्वेषण, प्रश्नों का समाधान आदि उपशीर्षकों के साथ अलग-अलग विचार कर सकते हैं अथवा ऐसे उपशीर्ष न भी बनाए जाएँ, पर इन बिन्दुओं पर विचार अवश्य हो। शोधार्थी बहुधा इन विषयों पर निबन्ध के मुख्य भाग में बात करते हैं।

शीर्षक

शोध-निबन्ध का शीर्षक निर्धारित करते समय शोधार्थी को अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। लक्षित विषय-वस्तु को सम्पूर्ण ध्वनि के साथ मुखर करने वाले सही शीर्षक का चुनाव बहुत जटिल होता है। इसके लिए नपे-तुले बोधपूर्ण पदबन्धों के प्रयोग में बड़े कौशल की आवश्यकता होती है। ध्यान रखना चाहिए कि शीर्षक यथासम्भव रोचक, आकर्षक हो और शोध-निबन्ध के उद्देश्य को भली-भाँति स्पष्ट करे। शीर्षक बहुत लम्बा नहीं हो, वर्ना वह आकर्षक नहीं होगा। इतना छोटा भी नहीं हो कि वह अपना लक्ष्य ही सम्प्रेषित न कर पाए। आकर्षण और सम्प्रेषण का सन्तुलन ही शोधार्थी के कौशल की कसौटी होगी। शीर्षक से किसी तरह की भ्रान्ति तो किसी सूरत में न उपजे। शोधार्थी की जरा-सी चूक पूरे निबन्ध की प्रयोजनीयता कलंकित कर देगी। शीर्षक निर्धारण के समय लक्षित शोध-प्रश्नों की अर्थ-ध्वनियों के समावेशन का ध्यान यथासम्भव रखा जाना चाहिए।

प्रस्तावना

शोध-निबन्ध का प्रस्तावना-खण्ड किंचित विरणात्मक होता है। ज्ञानोन्मुख चिन्तन की दृष्टि से लक्षित विषय-प्रसंग में शोधार्थी की प्रश्नाकुलता जिस कारण बढ़ी है; जिस कोटि के अनुशीलन के अभाव में वह क्षेत्र अपूर्ण लगता है, या कि जिन प्रसंगों का उल्लेख न होने के कारण ज्ञान के क्षेत्र में अथवा सामाजिक जीवन-व्यवस्था में कोई क्षति हो रही है; शोधार्थियों को तर्कपूर्ण व्याख्या के साथ उन सभी

समस्याओं को अपने निबन्ध के प्रस्तावना-खण्ड में स्पष्टता से रेखांकित करना चाहिए।

प्रस्तावना-खण्ड में शोध के विषय की संक्षिप्त सूचना होनी चाहिए। यह अंश बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए। विषय-प्रवेश की चर्चा करने के क्रम में बहुत विस्तार में नहीं जाना चाहिए। ध्यान रहे कि विषय-प्रसंग का परिचय, प्रयोजनीयता, शोध विषयक प्रश्न या कि जिज्ञासा आदि का खुलासा यहीं होता है, इसलिए संक्षेप के चक्कर में यह उतना छोटा भी न हो जाए कि बात ही स्पष्ट न हो।

प्रस्तावना-खण्ड किसी शोध-निबन्ध का प्रारम्भिक अंश होता है, इसलिए इसकी रोचकता बरकरार रहनी चाहिए। रोचकता खण्डित होने पर कोई अध्येता इसके विषय-प्रसंग में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। लक्षित विषय पर पूर्व में हो चुके कार्यों की जानकारी प्रस्तावना-खण्ड में ही दे देनी होती है। विषय से सम्बद्ध आवश्यक और समुचित स्थान-काल-पात्र, समाज-व्यवस्था-संस्कृति की जानकारी भी इसी भाग में दी जाती है। विषय जैसा भी हो, पर उस विषय की प्रस्तावना निश्चय ही ऐसी होनी चाहिए, जिससे भावकों का विषय-प्रवेश अत्यन्त सुगम हो जाए। शोध-प्रसंग की प्रकल्पना (Hypothesis) का उल्लेख प्रस्तावना-खण्ड में होना चाहिए। इस खण्ड में निबन्ध के अगले अंशों में होने वाले विचार-विमर्श का संकेत भी होना चाहिए।

मुख्य भाग

शोध-निबन्ध का मुख्य भाग नामानुसार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें प्रस्तावित विषय-वस्तु की सम्यक् व्याख्या होती है। यह भाग कई उपशीर्षकों में बँटा होता है। सभी उपशीर्षक विषय-प्रसंग के अनुकूल आरेखित होते हैं। सम्बद्ध स्रोतों से संकलित तथ्यों का बोधपूर्ण अन्वेषण, अनुशीलन इस खण्ड में महत्त्वपूर्ण होता है। सभी उपशीर्षक विषय-वस्तु की मूल समस्या और बुनियादी सवालों के हल की तलाश में अग्रसर होते हैं। इस खण्ड में विवरणों, विश्लेषणों, उद्धरणों, चित्रों, आरेखों, तालिकाओं आदि से परहेज नहीं होता; कारण सभी प्रश्नों, सभी समस्याओं का समाधान यहीं होना होता है। पर, इस बात का ध्यान सदैव रखा जाता है कि निरर्थक विस्तार, अवांछित उद्धरण, अनुपयुक्त विवरण, भ्रामक विश्लेषण की ओर कदम न बढ़े। नैतिक एवं

तथ्यपरक विश्लेषण के साथ सभी ज्वलन्त प्रश्नों का हल निकालते हुए अन्त में किसी नीर-क्षीर विवेकी निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है।

निष्कर्ष

निबन्ध के निष्कर्ष-खण्ड में पूरे शोध का सार लिखा जाता है; शोध-प्रश्नों के स्पष्ट समाधान का यहाँ विधिवत उल्लेख होता है। शोध-निबन्ध का निष्कर्ष पूरी तरह मुख्य भाग में किए गए अनुशीलन-विश्लेषण-व्याख्या पर आधारित होता है। मूर्त्त, दीप्त, संक्षिप्त होना इस खण्ड की अनिवार्य शर्त है। उल्लिखित वैशिष्ट्य हों तो कोई आलेख स्वमेव सम्प्रेषीयता और प्रभावोत्पादक हो जाए!

सन्दर्भ-सूची

सन्दर्भ-सूची किसी शोध-निबन्ध का अन्तिम किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खण्ड होता है। इस खण्ड में निबन्ध-लेखन के दौरान उपयोग में लाई गई सभी पुस्तकों, पत्रिकाओं, समाचार-पत्रों, अप्रकाशित पाण्डुलिपियों, शोध-लेखों का विवरण दिया जाता है। इस सूची का महत्त्व दो कारणों से अहम् है--अध्येताओं को अपने शोध-साक्ष्यों की प्रमाणिकता देने की दृष्टि से तथा प्राप्त सहयोग हेतु व्यवहृत सन्दर्भ के कर्ता के प्रति कृतज्ञता -ज्ञापन की दृष्टि से। इस सूची में लेखक, पुस्तक, शोध-लेख के नाम के साथ वर्ष, संस्करण, प्रकाशक, स्थान तथा पृष्ठ संख्या का यथासम्भव उल्लेख होना चाहिए। तिथि एवं समय सहित उपयोग किए गए वेबसाइटों का उल्लेख भी पूरे लिंक के साथ सन्दर्भ-सूची में होना चाहिए।

शोध और आलोचना

उल्लेखनीय है कि शोध और आलोचना एक बात नहीं है। तुलनात्मक दृष्टि से दोनो में तात्त्विक भेद है, पर गुणात्मक रूप से दोनो की कई विशेषताओं में साम्य भी हैं--

साम्य

- शोध और आलोचना--साहित्य के अनुशीलन की दो अलग-अलग विधियाँ हैं; दोनो की कार्य-पद्धति भिन्न है। फिर भी अपनी क्रिया में दोनो एक-दूसरे को सहयोग देते हैं।
- शोध और आलोचना--दोनों का उद्देश्य साहित्य को समाज के प्रति उसकी समस्त उपयोगिता के रूप में विश्लेषित करना होता है।

- आलोचना किसी रचना के जीवन-अनुभवों का उद्घाटन करती है। शोध इन जीवन-अनुभवों को तथ्य के रूप में पकड़ता है, और उनके अनुशीलन द्वारा आलोचना के मर्म को उद्घाटित करता है।
- आलोचना किसी कृति पर मत देते हुए रचना के शिल्प, स्वरूप, प्रवृत्ति को मान्यता देनेवाले बिन्दुओं को खोजती है, इससे शोध को गति मिलती है।
- जिस प्रकार कोई रचना किसी आलोचना का कारण बनती है, और आलोचना किसी रचना को महत्त्व देने का माध्यम; ठीक उसी प्रकार आलोचना से शोध को दिशा मिलती है एवं शोध से आलोचना को दृष्टि।
- शोध में तथ्यानुसरण का दृष्टिकोण अन्वेषणात्मक होता है। आलोचना में आत्मपरकता के कारण अभिव्यक्ति-कौशल की प्रधानता रहती है।
- उल्लेख्य है कि आत्मपरकता के बावजूद आलोचना में आलोचक एकदम से आत्ममुख ही नहीं होते; वस्तुबोध के मद्देनजर उससे शोधार्थी जैसी तटस्थता की आशा की जाती है।
- सत्य है कि शोध की प्रक्रिया अनुशासनबद्ध होती है; आलोचना में वैसी कठोरता नहीं होती; फिर भी शोध और आलोचना--दोनों में विवेचन, कार्य-कारण सूत्र के अन्वेषण और अर्थोद्घाटन की समानता रहती है।
- ज्ञान-विज्ञान की हर शाखा में इन दोनों से, अर्थात् शोध और आलोचना से अपेक्षा रहती है कि अनुशीलन की दोनो पद्धतियों में रचना का समुचित मूल्यांकन हो, और उसका महत्त्व प्रतिपादित हो।
- शोध की सीमाओं के पार चले जाने वाले कार्य को भी आलोचना पूरा करती है।

वैषम्य

- पाठकों में बेहतर साहित्य के प्रति गम्भीर रुचि उत्पन्न करना आलोचना का दायित्व माना जाता है, जबकि शोध की स्थिति में यह दायित्व नहीं माना जाता।
- प्राप्त जानकारी की पुष्टि या पुरानी जानकारी के नए विवेचन से कोई नई स्थापना करना शोध का मूल उद्देश्य होता है। आलोचना से ऐसी अपेक्षा अनिवार्य नहीं होती।

- शोध के लिए सुनिश्चित वैज्ञानिक कार्यविधि की अनुशासनबद्धता अनिवार्य होती है, जो आलोचना के लिए लागू नहीं होती।
- शोध मूलतः तथ्याश्रित होता है। आलोचना में तथ्यान्वेषण की प्रधानता नहीं रहती।
- शोध हमेशा वस्तुनिष्ठ होता है। पर, आलोचना व्यक्तिनिष्ठ भी हो सकती है।
- शोध का सम्बन्ध रचना के रहस्य-तन्त्र से होता है, जबकि आलोचना का रचना के मर्मोद्घाटन से।
- शोध का विषय परिकल्पित होता है, जबकि आलोचना का विषय ज्ञात और स्पष्ट।
- शोधार्थी के पास कोई पूर्वनियोजित मानदण्ड नहीं होते, पर आलोचक के पास प्रायः होते हैं।
- शोधार्थी की भाषा तथ्यों के अनुरूप होती है। पर, आलोचक की भाषा भावावेशमयी हो सकती है।
- शोधार्थी किसी पूर्वधारणा या पूर्वाग्रह को नहीं अपना सकता, जबकि आलोचक इस बन्धन से मुक्त होता है।